: प्रकाशक :
राजेन्द्रकुमार जैन, 'विशारद'
व्यवस्थापक
नरेन्द्र साहित्य-कुटीर
मोतीमहल दीतवारिया
इन्दौर

÷

प्रथम संस्करण
अगस्त, १९३८
द्वितीय संस्करण
जून १९४९
मूल्य
२।)

: मुद्रक :
शिवराजसिंह,
सुभाष प्रिन्टिंग प्रेस,
इन्दौर।

सूर: एक अध्ययन

स्वर्गीय नरेन्द्र

तेरी ही स्मृति के पवित्र अनुष्ठान में

—शिखरचन्द

[प्रथम संस्करण की भूमिका से]

दूसरे की ओर से

....मैं इन्दौर आया। मानसिक तथा आर्थिक संघर्ष के वे दिन! इतनी बड़ी नगरी में एकाकी। तभी [illegible] शिखरचंदजी मास्टर। कैसे हम मिल गये, आज इतने दिन बाद मैं नहीं बतला सकता।

मास्टर मेरे इतने निकट हैं कि उनके बारे में मेरी कोई बात पक्षपात पूर्ण समझी जा सकती है। भावुक दीन-दुनिया से बेखबर, Inferiority complex और उपेक्षित; कहीं गहरे तल में सेवा और साधना की आग: यह है मास्टर का विश्लेषण। मैंने देखा इस आदमी ने बहुत खोया है और इसे सदा वंचित रहना पड़ा है। चलते चलते वह रुक गया है; सोचने लगा—अरे मैं रुक क्यों गया? और फिर चल पड़ा है। बाधाएं ही इसे सदा मिलीं कभी थक गया, कभी निराश हो गया और कभी न जाने कहां से कोई सम्बल पा बढ़ चला है।....

इस निबन्ध का भी हाल बहुत कुछ लेखक जैसा ही है। आज से सात-आठ बरस पहले यह लिखा गया था। तभी पढ़ा गया, सुना गया, देखा गया और प्रशंसित भी हुआ! सम्मेलन परीक्षाओं के विद्यार्थी इससे लाभ उठाते रहे; काश निबंध बोल सकता, बतलाता कि कितना उपेक्षित उसे होना पड़ा है। कभी सुना-प्रकाशित होने जा रहा है: और यह कहीं छिपकर खोकर ऐसा बैठा कि बैठ ही गया।

आज यह छपकर प्रकाशित हो रहा है। निर्णय पाठकों पर निर्भर है। इतना तो मैं कहूंगा ही कि सम्मेलन-परीक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उपयोगी होगा।

काशी भीगा सावन, ९५ श्याम् सन्यासी

सूर : एक अध्ययन

—:पर:—

हिन्दी के पत्रों की निष्पक्ष, पूर्ण, अविकल आलोचनाएँ

महाकवि सूर के लिए तो कुछ कहना ही व्यर्थ है। हिन्दी की वृहत्त्रयी तुलसी, सूर, कबीर में उनका अत्यन्त आदरणीय स्थान है। प्रस्तुत निबन्ध भी सूर के ऊपर एक पढ़ने लायक चीज है। पढ़कर पाठक सूर की कविता और साधना, उनकी ऐतिहासिक महत्ता और आध्यात्मिक गुरुता को और भी निकट से देखने और समझने का अधिकारी हो जाता है। सुयोग्य लेखक ने हिन्दी के महान् मर्मी कवि पर बड़ी ही मेहनत और लगन से चिन्तन किया है। भाषा में गति और भाव विन्यास है। शैली रोचक और विषय के अनुरूप ही गम्भीर है। पढ़कर पाठक सूर के बारे में बहुत-सी बातें जान सकता है। सम्मेलन-परीक्षाओं के छात्रों के लिए तो यह विशेष रूप से उपयोगी है।

'हंस', काशी

हिन्दी में आलोचनात्मक पुस्तकों का अभाव है जो हैं, उनमें अधिकांश दरिद्र—असफल। ऐसी हालत में 'सूर : एक अध्ययन' जैसी मननशील पुस्तक का (हालां कि छोटी है) प्रकाशन सचमुच प्रशंसनीय है। इसमें लेखक ने महाकवि सूरदास की रचनाओं पर अपने विवेचनात्मक दृष्टिकोण से विचार किया है। ऐसा करते समय उन्होंने अपनी बातों को जहां तक हो सका, स्पष्ट, सरल और विद्यार्थियों के योग्य बनाने का सफ़ल प्रयत्न किया है। यों तो हम ऐसे विषय पर अधिकाधिक बातें सुनने और जानने को इच्छुक रहते हैं, किन्तु यह पुस्तक इतने ही में पूर्ण समझी जायगी, ऐसा हमारा ख्याल है। सारी पुस्तक पढ़ जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने बहुत कम विषय छोड़े हैं, जिन पर वह विचार नहीं कर सका है। हम ऐसी पुस्तक का स्वागत

करता है।

साप्ताहिक 'विश्वमित्र' कलकत्ता।

हमारे यहाँ आलोचनात्मक साहित्य की अभी बड़ी भारी कमी है। और फिर अनेक हिन्दी-प्रेमी तो प्राचीन कवियों की ओर ध्यान तक नहीं देते। श्री शिखरचन्दजी जैन 'साहित्य रत्न' ने सूर पर एक निबन्ध लिखकर इसी कमी की पूर्ति करने का प्रयत्न किया है।

सबसे पहले लेखक ने सूर के ऐतिहासिक स्थान को स्पष्ट करने की चेष्टा है! हिन्दी की उत्पत्ति, उस समय की राजनैतिक अवस्था, सूर के पहले की धार्मिक स्थिति, रामानुज और उनका वैष्णव सम्प्रदाय, कबीर और विद्यापति का सूर पर प्रभाव—इन सभी का सूक्ष्म विवेचन लेखक ने किया है। इसके पश्चात अनेक दृष्टि-कोणों से सूर साहित्य पर विचार किया है। सूर पर कोई भी आलोचना उनके संगीत-ज्ञान पर विचार किये बिना अधूरी है। लेखक ने गीति काव्य के इस आवश्यक स्तम्भ पर भी उचित प्रकाश डाला है। इसके बाद सूर-सारावलि, साहित्य लहरी और सूरसागर का निरूपण आता है। सूर की शैली और रसों का भी सम्यक् अध्ययन किया है। अन्त में सूर की भक्ति पर प्रकाश डालते हुए, लेखक ने निबन्ध समाप्त किया है।

पुस्तक का सुन्दर प्रबन्ध हमें मौलिकता की शिकायत का अवसर नही देता। आचार्य प० रामचन्द्र शुक्ल की भ्रमरगीत-सार की भूमिका के पश्चात सूर पर आलोचना के सम्बन्ध में हमारी दृष्टि श्री शिखर-चन्द जैन ही पर जाती है।

'सम्मेलन-पत्रिका', प्रयाग।

हिन्दी में सूरदास के सम्बन्ध में आलोचनात्मक ग्रन्थों का अभाव है। इस ग्रन्थ में लेखक ने सूरदास तथा उनके साहित्य के सम्बन्ध में एक अध्ययनपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध लिखा है। लेखक ने सूरदास के सम्बन्ध में लिखने के पूर्व सूर के पहले की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक अवस्था पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला है। सूर-

दास की कला पर संक्षेप में अच्छा विवेचन किया गया है। संगीत को लेकर सूर के सम्बन्ध में जो चर्चा की गई है, वह पर्याप्त नहीं। लेखक का कहना है कि तुलसीदास पर सूरदास का प्रभाव पड़ा था, परंतु हमें यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। लेखक महोदय स्वयं तुलसी की प्रतिभा को सूर से अधिक उत्कृष्ट समझते हैं। लेखक का यह कथन है कि मीरा ने कृष्ण की उपासना पति-रूप में की, परन्तु मीरा में परकीया के गुण किस सीमा तक थे, इस पर आपने प्रकाश नहीं डाला। मतिराम, रसखान, रत्नाकर, हरिऔध के सम्बन्ध में लेखक ने सूर का जो प्रभाव बताया है, उससे हम सहमत नहीं। मतिराम की भाषा सूर की भाषा से अधिक उत्कृष्ट और रसखान का हृदय सूर की भांति ही प्रेम में सराबोर जान पड़ता था, परन्तु उनकी उक्तियों में अपनापन है—विशेषता है। रत्नाकर और हरिऔध ने भी इस युग के अनुरूप अपने विचार रखे हैं।

सूर के वात्सल्य-वर्णन पर लेखक ने अच्छा प्रकाश डाला है। बाल लीला पर भी विस्तृत आलोचना है। सूर के विप्रलम्भ शृंगार के संबंध में भी लेखक ने काफी विचार किया है। पुस्तक में लेखक ने कई स्थलों पर काव्य-शास्त्र की प्राचीन परिपाटी से अच्छी तरह से विचार किया है फिर भी आलोचना को शास्त्रों के जाल से बचाने की काफी चेष्टा की गई है। स्थान-स्थान पर लेखक ने उदाहरण भी अच्छे दिये हैं, पुस्तक मध्यमा तथा साहित्यरत्न के विद्यार्थियों के काम की है।

'वीणा', इन्दौर।

हिन्दी-भाषा का बीज-वपन-काल

मुस्लिम आक्रमण को हिन्दी का बीज-वपन एवं पृथ्वीराज के पतन को हिन्दी विकास का प्रारम्भ हम साधारणतया मान सकते हैं। क्योंकि सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सिन्ध पर मुसल्मानों के आक्रमण होने लगते हैं। लगभग इसी समय पुष्प अथवा पुंड् नामक किसी कवि का होना पाया जाता है तथा पृथ्वीराज के पतन पर महाकवि चन्दबरदाई इसी समय 'पृथ्वीराज रासो' लिखना आरम्भ करते हैं। यों चाहे हिन्दी भाषा का प्रारम्भ सातवीं शताब्दी के बजाय ग्यारहवीं से माना जाय; किन्तु यह मानने में कोई हानि नहीं है कि हिन्दी का बीज-वपन अवश्य सातवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो चुका था। हिन्दी-भाषा की वह गर्भावस्था थी। उस समय काल के गर्भ में ही उसके अंग-प्रत्यंग पुष्ट हो रहे थे। गर्भावस्था में किसी शिशु की रूप-रेखा नहीं देखी जा सकती। केवल अनुमान, अनुभव और ज्ञान द्वारा ही उसका परिचय

प्राप्त किया जा सकता है। किसी भी भाषा के लिये कोई भी ऐसा निश्चित समय निर्धारित नहीं किया जा सकता, जहां से उसका प्रारम्भ माना जा सके। किसी एक पूर्व भाषा का रूप विकृत हो जाता है और नयी भाषा की रूप-रेखा उसी विकृतावस्था में से उद्गत होती जाती है। शनैः शनैः एक धारा के समान जब वह पार्वतीय विषम मार्ग समाप्त कर चुकती है, तब मैदान पर उसका उद्गम स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है। अतएव सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को हिन्दी का बीज-वपन-काल मानना अनुचित नहीं है और ग्यारहवी शताब्दी में हिन्दी भाषा के विकास का प्रारम्भ मानना तो निश्चित ही है।

सूर के पहिले की राजनैतिक अवस्था

हर्षवर्धन ही अन्तिम हिन्दू सम्राट् अथवा चक्रवर्ती महाराजा थे जिनका आधिपत्य समस्त उत्तरापथ पर था। उनके निधन ने समस्त भारत में एक प्रकार की अराजकता फैल गई। उनके पश्चात कोई भी सार्वभौमिक हिन्दू सम्राट् न हुआ। महमूद गजनवी के आक्रमण के पहिले केवल राजपूत राजागण ही छिन्न भिन्न रूप में उत्तर भारत का राज्य संचालन कर रहे थे। उनमें भी फूट पूर्ण-रूप से व्याप्त थी। वे छोटे-छोटे राज्यों में ही नहीं बटे थे, किन्तु पारस्परिक कलह ही अपना गौरव समझते थे। अपने पूर्वजों के समान न तो धार्मिक भाव ही प्रधान था और न राजनीति ही में उनकी कुछ विशेष गति थी। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस समय के ये राजागण राजनीति के सूक्ष्म तत्वों एवं व्यावहारिक राजनीति की चालों से ही पूर्ण अनभिज्ञ न थे, प्रत्युत वे राजनीति के क, ख, ग को भी भुला चुके थे। वे अपना एक-मात्र धर्म केवल समय-समय पर—जैसे कन्या हरण, विवाह, शरणागत रक्षा आदि के अवसरों पर—शौर्य-प्रदर्शन ही समझते थे। इसका फल यह हुआ कि जहाँ उनमें आत्मबल, शक्ति, त्याग एवं प्राण-समर्पण की

भावनाओं की प्रबलता होनी चाहिये थी। वह संगठन के अभाव, दुराग्रह, अपनी राजनैतिक चालों एवं कूटनीति की अनभिज्ञता के कारण वे पारस्परिक कलह में दत्तचित्त हो अपनी शक्तियों को शनैः शनैः क्षीण कर रहे थे। परिणामतः जो हिन्दू जाति हूण, कुशन सदृश बर्बर जातियों को आत्मसात कर सकी, वह क्षणिक धार्मिक आवेश से मदोन्मत्त मुस्लिम आक्रमणकारियों का सामना करने में असमर्थ रही। जीवन का इस समय नितान्त अभाव हो रहा था। नारियों ने जौहर में प्राण विसर्जन कर अपने गौरव की रक्षा की पर वे पुरुषों की सूखी नसों में उष्ण रक्त प्रवाहित न कर सकीं; क्योंकि उन्हें मुक्ति-मार्ग का कंटक समझा जाता रहा था और वे स्वयं भी अपनी सत्ता का अनुभव नहीं कर सकती थीं। तत्कालीन जनता में कूप-मण्डूकता की भी कमी नहीं थी। ऋषि-मुनियों के देश में अज्ञानांधकार का साम्राज्य था। इस समय तक भारतीयों ने अपनी विस्तृत चारदीवारी के बाहर जाना कम कर दिया था और फलतः उनमें जो जीवन में युद्ध करने की अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं ज्ञान-दान देने की क्षमता थी, उसका ह्रास हो गया था। इन्हीं कारणों से इस्लाम के धर्मान्ध कट्टर अनुयायी भारतीयों को सरलता पूर्वक पादाक्रांत कर सके। तो भी यह मानना ही पड़ेगा कि इस नैराश्य-पूर्ण समय में भी कहीं-कहीं आशा की किरण दिखाई पड़ जाती थी। अन्धकार में भी क्षीण प्रकाश मार्ग प्रदर्शित करता रहा और इसी आधार पर हिन्दू-जाति, संस्कृति एवं साहित्य की रक्षा हो सकी।

इस समय जनता के दुख-सुख का किसी को ध्यान नहीं था। दुधारी गाय के समान उसे जो शासक चाहता दुह लेता। फिर इस समय मुसलमान शासक यहाँ पर नये-नये ही आये थे। न तो वे यहां की आंतरिक परिस्थिति से परिचित थे और न युद्धादि से उन्हें इतना अव-

काश ही था कि वे उस पर ध्यान ही दे सकते। जगह-जगह कुशासन फैला हुआ था। मुस्लिम आक्रमणकारियों से सुदूर के प्रान्त अवश्य कुछ काल तक रक्षित रहे। दक्षिण कुछ समय तक उनकी पहुँच के बाहर रहा; पर अलाउद्दीन के समय से उस पर भी आक्रमण किये जाने लगे। सम्राट हर्ष के निधन से भारत की जो दशा बिगड़ी, वह मुस्लिम आगमन से भी नहीं सुधरी, प्रत्युत उत्तरोत्तर अधिकाधिक बिगड़ती ही गई। मुसलमानों के आक्रमण से पहिले भारतीय राजा तथा प्रजा में साहस, ओज, आत्मबलिदान की भावनाएँ, शक्ति, युद्ध-प्रियता और महत्त्वाकांक्षाएँ थीं। प्राचीन गौरव के पुनरुद्धार की उत्कट अभिलाषाएँ थीं। किन्तु मुस्लिम राज्य-स्थापन के पश्चात् तो ये सद्गुण एक-एक करके काफूर हो गये। पहिले तो ये जातीय गुण थे, बाद में केवल वैयक्तिक सद्गुण ही रह गये। भारत में राष्ट्र थे, किन्तु प्राण नहीं, जीवन नहीं। मुहम्मदगोरी की विजय के समय पृथ्वीराज ही एक अकेला वीर नहीं था, अकबर की राजस्थान-विजय के समय केवल प्रताप ही एक वीर नहीं था। वीरता थी; जातीयता और विजय-कामना नहीं, वैराग्य था। आत्मबल का अभाव था। धीरे-धीरे निराशा अपना घर बनाती गई; राजाओं ने गुलामी ही को अपना मुक्तिमार्ग समझा।

उधर जनता-जनार्दन भी शक्तिहीन हो चले। उनमें से भगवदंश उड़ गया था। उन पर भी मुस्लिम आगमन का प्रभाव पड़े बिना न रहा। ग्राम पंचायतों का सुख भोगनेवाली सीमित एकतन्त्री शासन (Limited monarchy) को स्थापित करने वाली वीर जाति की कोई बात पूछने वाला भी न था। जो जाति, जो ब्राह्मण विद्वान् जिन्होंने वेण को पदच्युत कर सके, वे मुस्लिम शासन की जड़ हिलाने में असमर्थ रहे। इसमें जितना दोष मुस्लिम आक्रमणकारियों का है, उतना ही भारतीयों की निर्बलता का भी। वे क्यों नतमस्तक हो गये?

क्यों पराधीनता का जुआ अपने कन्धों पर धारण कर लिया ? अत्याचार किए तो उस अत्याचार को सहा क्यों ? सामूहिक रूप से क्यों अपने अधिकारों के लिये नहीं लड़े ? ऐसी भीषण परिस्थिति में हिन्दी का विकास प्रारम्भ और प्रभावित हुआ।

ब्राह्मण विद्वान, त्यागशील, मनस्वी एवं चिन्तनशील अवश्य थे, किन्तु उनमें उद्धतपन, आत्मगौरव-प्रवञ्चना, अत्यन्त हिंसावादिता, कटुता, कर्मकाण्डता, एवं अपनी समझ में किसी को कुछ न समझना; आदि दुर्गुण भी थे। बौद्धधर्म के उद्भव का यही कारण था। सम्राट हर्ष के निधन तक बौद्धधर्म चढ़कर गिर चुका था और अपनी अन्तिम सांसे ले रहा था। महात्मा बुद्ध के सिद्धांत अति उच्च थे। उनका व्यक्तित्व महान् था। वह व्यवहार्य भी था, किन्तु उसके अन्तिम काल में उसके सूत्र विद्वानों के हाथों में नहीं रहे थे। उनमें तपस्या ही का भाव अधिक रह गया था। बौद्ध भिक्षु साधारणतया ज्ञान प्राप्त कर कुछ बौद्ध धर्म का अध्ययन कर ही अपने को बड़ा समझने लगे थे जैसा कि आजकल के साधुओं में देखा जाता है। इसका साधारण जन-समाज पर इसी लिए प्रभाव भी खूब पड़ा, किन्तु साधारण जन-समुदाय राम-कृष्ण को नहीं भूला था और जब फिर से ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा हुई जनता उस ओर झुकी। बौद्ध धर्म के अनीश्वरवाद के सिद्धांतों को भी प्रश्रय मिल गया था; किन्तु जनता का आधार उसकी रक्षा करनेवाला, उसे सुख-शांति देनेवाला, और दुःख में धैर्य बंधानेवाला केवल ईश्वरवाद का सिद्धांत ही है। चाहे हम ईश्वर का अस्तित्व न मानें, वह केवल कोरी कल्पना ही क्यों न हो; किन्तु साधारण जनता विद्वान नहीं होती, उतनी ज्ञान-सम्पन्न भी नहीं हो सकती; अतएव उसके हृदय में सद्गुणों और साहस को प्रतिष्ठित करने के लिए ईश्वर को मानना अत्यन्त

सूर के पहिले की धार्मिक परिस्थिति

आवश्यक है। फिर तात्कालिक ब्राह्मण विद्वानों ने बुद्ध को भी एक अवतार मानकर हिन्दू धर्म में मिला लिया। बौद्धों के समान अत्युक्ति-पूर्ण पुराणों की रचना कर डाली। जनता को और क्या चाहिये था? महात्मा बुद्ध में पूज्य भाव होते हुए भी हिन्दू-धर्म का पालन किया जा सकता था। इधर कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य के तर्कों के सामने बौद्ध धर्म न ठहर सका। केवल विदेशों में ही उसे प्रश्रय मिल सका, क्योंकि उसके सिद्धान्त विदेशियों को नवीन मालूम हुए। भारत तो इन सिद्धांतों को भली भाँति हृदयंगम कर चुका था और उन्हें चरम सीमा तक पहुँचा भी चुका था।

ब्राह्मण विद्वान ईश्वर के अस्तित्व व वेदों में ईश्वरीय ज्ञान के न माने जाने से बहुत दुःखी थे। अतएव कुमारिल भट्ट ने 'वेदों में ईश्वरीय ज्ञान है' का उपदेश दिया। उसने यज्ञ में हिंसा करना उचित ठहराया और इस प्रकार प्राचीन बातों का फिर से प्रचार किया, किन्तु जनता उसके लिए तैयार न थी और इसलिए उसके विचारों का स्वागत कुछ अधिक न हो सका। उस समय जनता शंकर को चाहती थी, उनके सिद्धान्तों को चाहती थी। अतएव उसने शंकर को उत्पन्न किया। कुमारिल भट्टने शंकर का कुछ मार्ग परिष्कृत कर ही दिया था। शंकर सन् ७८८ ई० में—कुमारिल भट्ट के कुछ बाद ही—पैदा हुए थे। शंकर ने उस अद्वैतवाद के सिद्धांत का, जो वेदोक्त था एवं बौद्ध मतावलम्बियों को भी अमान्य न था प्रचार किया। इसीलिए वे प्रच्छन्न बौद्ध कहलाये। उन्होंने आत्मा और परमात्मा को एक ही माना। उनका कहना था कि यह जगत मिथ्या है। इस तरह उनके सिद्धांतों का बौद्ध धर्म से भी कुछ साम्य था। वे ब्रह्म और वेदों को अमर मानते हैं। इसी समय बौद्धों के २४ बुद्धों, जैनों के २४ तीर्थंकरों के समान २४ अवतारों की भी कल्पना कर साम्य स्थापित कर लिया गया।

उसके पश्चात् दो-तीन शताब्दियों तक इन विचारों का प्राबल्य रहा और समस्त भारत में शंकर के अद्वैतवाद की प्रधानता रही। बारहवीं शताब्दी में फिर रामानुज ने विशिष्टाद्वैत एवं माध्वाचार्य ने द्वैतवाद का प्रचार किया। रामानुज जीवात्मा, जगत और ब्रह्म को एक ही मानते हैं। जीवात्मा और जगत ब्रह्म से ही निकले हैं किंतु पृथक होकर, विशिष्ट गुणों से समन्वित होकर ये कार्य-रूप में पृथक-पृथक होते हैं। माध्वाचार्य जीव, प्रकृतिऔर ईश्वर को भिन्न भिन्न मानते हैं।

इस समय तक मुसलमानों का न तो राजनीतिक और न धार्मिक ही कोई प्रभाव पड़ा था। किन्तु इसके पश्चात् भारतीय साहित्य, कला, संस्कृति एव धर्म पर उनका प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगा। मुसलमान लोग एकेश्वरवादी थे। उनमें सब बातें एकही थीं। एक खुदा; खुदा का एक पुत्र; मुसलमान-मुसलमान सब एक। शांति और विग्रह में सब समय एकता उनकी नीति, न्याय और धर्म था। उनमें न कोई जाति थी, न कोई पंथ। प्रारंभ में जबकि वे आये तब कोई दूसरा भाव था। धीरे-धीरे वह भाव बदलने लगा। अब सम्पत्ति हरण कर अपने देश को लौट जाने का भाव न था। इस समय तक वे अगणित हिन्दुओं को इस्लाम के झण्डे के नीचे ला चुके थे। कई हिन्दू स्त्रियों से विवाह कर गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने लगे। एक दूसरा आपस में मिलने लगा। लड़ाई-झगड़े का भाव धीरे-धीरे नष्ट होने लगा। उन्हें अब यह अनुभव होने लगा कि जब हमें यहीं स्थायी रूप से रहना है, तब हिन्दुओं से मेल किये बिना सुख और और आनंद की प्राप्ति नहीं हो सकती। इधर हिन्दू लोग अभी तक उन्हें लुटेरे और विदेशी समझते थे; परन्तु उन्हें यहां उन्हांनेबसते देख विरोध करना छोड़दिया। फिर भी उनकी प्रकृति,

उनका धर्म, उनका आचार-विचार अभी तक नहीं मिला था। दोनों जातियां शान्ति और सुख-पूर्वक रहें इसलिए इस बात की आवश्यकता थी कि दोनों का मेल-जोल बढ़े। दोनों आपस में एक दूसरे के सहायक न हों तो न सही, पर कम से कम विरोधक तो न बनें। उधर मुसलमान हिंसावादी थे, और इधर हिन्दू अहिंसाप्रिय। उनको अपनी शक्ति, सत्ता और कूटनीति पर विश्वास था, तो इनको अपने पूर्व गौरव, संस्कृति, उच्च विचार एवं सिद्धांतों और दर्शन का अभिमान था। राजा और प्रजा चाहे न मिल पावें, पर प्रजा-प्रजा कैसे बिना मिले रह सकती है। ऐसे समय में सत्कवियों एवं महात्माओं ने अमृतवाणी की वर्षा कर अपने सदुपदेशों से भारत को ऐसा आप्लावित किया और ऐसा अमर प्रभाव उत्पन्न किया कि आज तक उसी की गूंज हमारे हृदयों में गूंज रही है।

रामनुज स्वामी ने श्री वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित करके जो बीज बोया था, स्वामी रामानन्द ने उसे अपनी उदारता, गहनता एवं विद्वत्ता से इतना अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित किया कि उनके पश्चात् कबीर, नानक, दादू, रैदास, भीका साहब आदि अनेक महात्मा हुए। इन सबमें कबीर का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। बाद के महात्माओं में से अधिकांश ने उन्हीं का अनुकरण किया। कुछ थोड़े थोड़े परिवर्तन के पश्चात इन्हीं की शिक्षा, उपदेश और सिद्धांतों को ग्रहण किया। इन सब सन्त कवियों में जो सूर के पहिले एवं कबीर के पश्चात हुए, कबीर की ही छाप अंकित दिखाई देती है। यद्यपि देश के कोने-कोने से इन महात्माओं का उद्भव हुआ। कबीर साहब के पहिले, जैसा हम पहिले कह आये हैं, हिन्दू-जाति निराशा के गर्त में पूर्ण-रूप से जा चुकी थी। उनमें शारीरिक शक्ति का किसी प्रकार अभाव नहीं था। उनमें व्यक्तिगत साहस था। भिन्न-भिन्न रूप से उनके प्रयत्न भी विदेशी आक्रमकों

को देश से बाहर करने के लिये हुए। फिर भी वे अपनी आँखों के सामने अपने धर्म का—जिसे हिन्दू-जाति तथा प्रत्येक जाति प्राणों से प्यारा समझती है—अपनी पूज्य मूर्तियों का अपमान देखते थे तो उन्हें अपने ऊपर बड़ी ग्लानि होती थी। ऐसे नैराश्य-पूर्ण एवं आत्म विस्मृति के समय कबीर आदि महात्माओं ने निर्गुण भक्ति का संदेश भारत को देकर भारत का बड़ा उपकार किया है। यह सत्य है कि निर्गुण ब्रह्म इंद्रियातीत है, पर उसका अस्तित्व मानना ही मुर्दा जाति को जीवनदान दान देना था। कबीर में बड़ी उच्चकोटि की प्रतिभा थी, यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे। उनमें उच्चकोटि की लगन, जाति-हित प्रेरणा, मानव-प्राणी मात्र की भलाई की कामना थी, चाहे उनके शब्दों के ओज एवं तीव्रता में हमें कुछ कटुता मिले। वे वेद उपनिषद् नहीं पढ़ सकते थे। वे वेदांगों में पारंगत विद्वान नहीं थे। उन्होंने सांख्य-मीमांसा के ग्रंथ नहीं पढ़े थे, किन्तु इनके तत्वों एव सिद्धांतों से वे अनभिज्ञ नहीं थे। उन्होंने बड़े बड़े विद्वानों, साधु-महात्माओं का संसर्ग किया था। वे बहुश्रुत थे। सत्य ही उनका व्यवसाय था। सुकार्य ही उनका भोजन था। कबीर ने हिन्दू मुसलमानों दोनों के ही दोषों का उद्घाटन किया है। उन्होंने रचनात्मक नहीं, प्रत्युत खंडनात्मक मार्ग ग्रहण किया था। रचनात्मक कार्य तो आगे जाकर सूफी कवियों जायसी, सूर और तुलसी द्वारा होने वाला था और हुआ। प्रारंभ में खंडनात्मक कार्य ही शुरू किया जाता है। जब हम किसी पुरानी इमारत के स्थान पर कोई नवीन भवन का निर्माण करते हैं, तब हमें पहले उस पुरानी इमारत को नष्ट करना ही पड़ता है। कबीर के पहिले हिन्दू-समाज का भवन जो हजारों वर्ष का पुराना हो गया था, वह समय-समय पर कुछ स्तम्भ लगा, कुछ बल्लियाँ लगा, सुधारकर या कई प्रकार के टेके लगाकर रहने योग्य बना लिया गया था। हिन्दू-समाज की दशा उस समय भिखारी की गुदड़ी के

समान थी। एसी अवस्था में कबीर के जैसी आत्मा ऐसे भवन में रहना स्वीकार कैसे कर सकती थी? उसने उस प्राचीन भवन को जितनी शीघ्रता से हो सके, गिराना आरम्भ किया। वह कभी पूर्व की दीवाल गिराती, कभी पश्चिम की। कबीर ने हिन्दू-मुसलमान दोनों के बाह्य आडम्बर की तीव्र निन्दा की थी। मुसलमानों के रोज़ा, नमाज़ आदि की एवं हिन्दुओं के जप, तप, माला आदि की। उन्होंने केवल आंतरिक सत्य ज्ञान की ही प्रधानता बतलाई। इनकी इस कटुता के परिहार का थोड़ा प्रयत्न प्रेम मार्गी सूफी कवियों ने किया; किन्तु समाज पर उनका इतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना कबीर आदि संत कवियों का। यद्यपि संत कवियों से प्रेम-मार्गी सूफी कवियों में साहित्यिकता अधिक है। इस प्रकार कबीर ने अपने खरे-तीखे उपदेशों से सूर और तुलसी के सगुण भक्ति के मार्ग की काट-छाँट कर उसे परिष्कृत कर दिया। यद्यपि प्रतिभाशाली व्यक्ति के लिये सब बातें अलौकिक रहती हैं, तथापि यह कहना ही पड़ेगा कि कबीर की प्रतिभा के आधार से उठकर वह सगुणोपासना चरम कोटि (Climax) पर पहुँचा दी गई, जहाँ से कि हिन्दी-साहित्य का ढलाव प्रारम्भ हुआ। हाँ यह अवश्य था कि अपने-अपने समय में एवं अपने-अपने क्षेत्र में सूर और तुलसी की प्रतिभाएं उच्चतम थीं।

खेत में जब बीज बोया जाता है, तब तत्काल ही उसके अंकुर नहीं निकल आते हैं। वह भूमि के अन्दर रचना-पचता है और एक समय तक हमें दिखाई नहीं देता है। उसी प्रकार हिन्दी-भाषा का बीजारोपण

सूर के पहिले हिन्दी-भाषा और साहित्य का विकास

सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हो गया था, किंतु तीन-चार शताब्दी तक हमें उसका कुछ रूप दिखाई नहीं दिया। पर आरम्भ में वर्षा हो जाने के पश्चात् जैसे उसके अस्पष्ट

अंकुर दिखाई देते हैं, इसी प्रकार मागधी प्राकृत में हिन्दी-भाषा के स्पष्ट अंकुर हमें पूर्वी पदों की काव्यशैली एवं बौद्ध पदों की हठ-साधना के पद्यांशों में दिखाई देते हैं।

इन पद्यांशों के देखने से ज्ञात होता है कि प्रथम डिंगल एवं द्वितीय पिंगल भाषा में लिखा गया है। ये करीब-करीब एक ही समय के हैं। अतएव ज्ञात होता है कि भाषा के दोनों प्रकारों का विकास करीब-करीब साथ ही हुआ। एक बात पर ध्यान जाता है, वह यह कि प्रथम में पूर्ण विरामादि चिह्न नहीं और द्वितीय में हैं। इनमें प्रथम राजस्थान की ओर बोली जानेवाली बोली या असाहित्यिक भाषा है व द्वितीय उस समय की शुद्ध साहित्यिक भाषा। महाकवि चन्द ने इसी द्वितीय भाषा में अपना महाकाव्य रचा। चन्द केवल राजाओं के गुण गान करने वाला भाट नहीं था। वह साहित्यिक और वीर भी था। उसकी भाषा में कितने ही दोष कोई क्यों न निकाले, किन्तु यह कहने के लिए हमें बाध्य होना ही पड़ता है कि उस काल का वह सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक एवं परमोत्तम रचनाकार है। उसकी रचनाएँ यह बताती हैं कि हिन्दी-भाषा का विकास उसके समय तक कितना हो गया था। यह भी निस्संदेह कहा जा सकता है कि युद्ध-वर्णन जिस विस्तार के साथ, सर्वांग-पूर्ण उसने किया, वैसा आज तक कोई कवि नहीं कर सका। इसका कारण स्पष्ट है। उसने युद्ध देखे ही न थे; युद्ध लड़े थे। अतएव युद्ध-वर्णन के वह सर्वथा योग्य है। भाषा के विकास को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि चन्द के समय में भाषा अपना अपभ्रंश का परिधान उतारकर नवीन वस्त्र धारण कर रही थी। उसमें पाश्व का कुछ अंश प्राकृत से एवं कुछ अंश सूर के समय की हिन्दी से मिलता है। संभव है यह पीछे से जोड़ा हुआ अंश हो। किन्तु इस समय तक 'हिन्दी-भाषा में वह माधुरी नहीं आई थी, जिसका एक-मात्र श्रेय सूर और तुलसी को

है। जैसा कि कुछ समय पहिले खड़ी बोली के लिए कहा जाता था। इसलिए उस समय के कई संस्कृतज्ञ विद्वान् कदाचित भाषा में काव्य-रचना करने में अपना गौरव नहीं समझते थे। गौरव समझना तो दूर, वे इसमें अपनी अल्पज्ञता समझते जैसा कि खड़ी बोली के संबंध में अंग्रेजी भाषा के विद्वानों के विचार थे। बिलकुल यही परिस्थिति उस समय थी।

अमीर खुसरो की रचना यद्यपि गद्य का विकास बताती है, तथापि वैसी भाषा मुस्लिम-प्रभाव-गत उत्तरी प्रांत विशेषकर मेरठ के आस-पास ही अवश्य बोली जाती रही थी, पर वह उस समय तक व्यापक नहीं हुई थी।

इसके पश्चात् अब कुछ बिहारी भाषा के सम्पुट के साथ विद्यापति की सरस लहरी में हिन्दी-साहित्य गोते लगाने लगता है। यहाँ एक दूसरी ही छटा देखने को मिलती है। इनकी भाषा यद्यपि भाषा के विकास का समुचित रूप प्रदर्शित नहीं करती है, क्योंकि इन की भाषा मैथिल है जिस पर हिन्दी से अधिक साम्य होते हुए भी बंगला का भी प्रभाव लक्षित होता है—भाषा पर ही नहीं, साहित्य, कहने का ढंग (शैली नहीं), विचारणा एवं मधुरता पर भी।

कबीर की भाषा साहित्यिक नहीं और न इन्होंने उसे साहित्यिक बनाने का प्रयत्न ही किया है। वे तो जब चाहते या जो भाव उनके हृदय में आते, उन्हें खरी, सीधी, सच्ची, बिना अच्छे-बुरे का ख्याल किये कह डालते। भला उन्हें भाव के आगे भाषा की क्या जरूरत थी? निर्गुण के आगे सगुण की उपासना से उन्हें क्या मतलब था? निर्गुण केवल ज्ञान और भाव पर अवलंबित है। सगुण

आतुर था, मचलता था। इसी का प्रभाव उनकी भाषा पर भी पड़ा है। फिर उनके समय में तो भाषा ने भी अपना सुनिश्चित गठित नहीं बना था। कबीर ने भी उसे स्वतन्त्रता पूर्वक बहने दिया। उसके प्रवाह को रोका नहीं। उसके किनारे घाट बाँध उसे मनोहर बनाने की चेष्टा नहीं की। इसीलिए वहाँ भाषा का जल बहुत मैला बहता है। पर्वत से बहती आई पाषाण-शिलाओं के समान अभी तक उसमें दिखाई दे रहे हैं। और कबीर तो उपदेशक थे, साहित्यिक नहीं। तत्कालीन भिन्न-भिन्न स्थानों पर बोली जाने वाली प्रचलित भाषा में ही उन्होंने अपने उद्गार प्रगट किये हैं। अतएव उनकी भाषा में हम हिन्दी-भाषा के विकास के चिह्न पाते हैं और यह देखते हैं कि अब उसने अपना अपभ्रंश का चोला बिलकुल उतार दिया। वह कुछ प्रौढ़ हो चली थी, शरीरांगों की दृष्टि से, वय की दृष्टि से नहीं; पर थी अभी वह अल्हड़ बालिका ही। ऐसी अवस्था में कबीर से शुद्ध साहित्यिक भाषा की आशा रखना व्यर्थ है। पर स्थान-स्थान पर उसके अंगों से भाषा के ओज-रूपी दीप्ति की प्रभा फूट-फूटकर निकल रही है।

हिन्दी-भाषा के समान हिन्दी-साहित्य भी अभी तक पूर्ण विकसित अवस्था तक नहीं पहुँचा था। सातवीं शताब्दि में जिस अलंकार ग्रन्थ का होना बताया जाता है उसका अवतरण अंश भी अप्राप्य है। दो-तीन वर्षों तक, उस समय, प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषा के साहित्यों का ही प्राबल्य रहा। बाद में ग्यारहवीं शताब्दी में तत्कालीन वीरों पर अवश्य प्रचुर साहित्य मिलता है। जैसे - विजयपाल रासो, नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो आदि जिनमें शृंगारिक भावों का अवलम्बन कर वीरों की यश-गाथा गाई गई है। वह समय ही ऐसा था जब कि वीर रस-समन्वित काव्य की आवश्यकता थी और इस साहित्य ने बहुत कुछ अंशों में उसकी पूर्ति की भी। शृंगार का जो

पुट इस साहित्य में दिया गया, वह भी तत्कालीन शृंगारिक मनोवृत्ति का ही परिचायक है कि उस समय के वीर भी शृंगारिक प्रवृत्ति को एक ओर रख या केवल देशभक्ति की भावनाओं से ही वीरता-प्रदर्शन नहीं किया करते थे।

इसके कुछ समय पश्चात् ही विद्यापति की सरस लहरी और कबीर की प्रबल धारा में हिन्दी साहित्य लहराता रहा। विद्यापति ने जो माधुर्य, जो सरसता, जो कोमल कान्त शब्द रचना का प्रवाह बहाया, वह अप्रतिम है। पर उनकी रचनाओं में संस्कृत और बिहारी भाषाओं का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। इसीलिए उनके साहित्य के प्रभाव की धारा पश्चिम की ओर न आकर पूर्व की ओर जा निकली और उसका प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर कम और बंग-साहित्य पर अधिक पड़ा। पर यह तो कहना ही पड़ेगा कि सूर पर विद्यापति के साहित्य का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा है। सूर चाहे विद्यापति या उनके काव्य से परिचित न रहे हों, पर यह अवश्य था कि अप्रत्यक्ष रूप से विद्यापति की भावनाएँ सूर के हृदयाकाश में मँडरा रही थीं। विद्यापति की अश्लीलता संस्कृत-कवियों की परम्परा से आई और इसी से सूर को भी इतना साहस हो सका कि राधा-कृष्ण के अश्लील प्रेम को भी वे अपने भक्ति प्रवाह में बहा ले जा सके। अतएव सूर-साहित्य के अध्ययन के पहिले विद्यापति का अध्ययन भी एक आवश्यक बात हो जाती है।

जिस प्रकार प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से विद्यापति के साहित्य ने कोमलता, सरसता, माधुर्य, संयोग शृंगार से ओत-प्रोत भावनाएँ, सजीव वर्णन दिये, उसी प्रकार कबीर ने भी सूर-साहित्य को ओज, निर्भीकता, साहस, उद्दण्डता, कुछ-कुछ अंशों में छिछलापन और सत्य कथन देने में कमी नहीं की। क्योंकि कबीर के साहित्य में इन्हीं गुणो की प्रचुरता पाई जाती है। कबीर के साहित्य का प्रचार भी साधारण जनता में काफी हो चुका था। इस प्रकार हम देखते हैं कि विद्यापति

से साहित्य ने सूर को अपना बनाई तो कबीर ने [illegible], किन्तु एतद्-गुरुद्। सूर ने जैसा आगे चलकर हम देखेंगे, इन दोनों का सम्मिलन करने में अपनी प्रतिभा का प्रकाश दिखाया पर साथ ही उनके कुछ दोष भी उनमें आ गये, जो उन्होंने गुरुजी के सुधार के लिये छोड़ दिये।

सूर साहित्य सागर अगम है। उसकी थाह लेना कठिन है; किन्तु कुछ आधार और साधन ऐसे हैं या इन आधारों की सोह-जंजीर ऐसी है जिनके सहारे हम कुछ समय तक उसमें स्नान कर आनन्द उठा सकते हैं। राजनैतिक अवस्था, धार्मिक परिस्थिति एवं हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास रूपी तीन आधारों के द्वारा हम इस सागर के किनारे पहुँच गये हैं, किन्तु अब उसमें स्नान तब तक नहीं कर सकते जब तक हम (१) विष्णु, वैष्णव धर्म एवं वल्लभाचार्य (२) संगीत (३) एवं साहित्यरूपी तीन आधारों का सहारा और न ले लें। नीचे हम इन्हीं तीन विषयों पर विवेचन कर सूर-साहित्य में प्रवेश करेंगे। इन पर विवेचन किये बिना सूर-साहित्य को समझना बड़ा कठिन है क्योंकि इनका और सूर-साहित्य के परिज्ञान का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

विष्णु, वैष्णव धर्म तथा वल्लभ सिद्धांत

वैदिक साहित्य में जितना उल्लेख हमें शिव पर मिलता है, उतना विष्णु पर नहीं। इससे ज्ञात होता है कि उस समय शिव का विष्णु से कहीं अधिक महत्व था। कहीं-कहीं तो विष्णु शिव के विरोधी शक्ति से दिखाई देते हैं। पर प्रारम्भ से विष्णु सूर्य के अवतार माने गये हैं और इनका महत्व किसी भी अन्य देव से कम नहीं समझा गया है। संहिताओं में विष्णु का विशेष और कई बार उल्लेख आया है। संहिताओं के समय में विष्णु का महत्व बढ़ गया था और शिवादि अन्य ईशों से भी अधिक उनका सम्मान था। वे विश्व के एक-मात्र अधीश्वर सृष्टि कर्ता माने जाते

इससे ऐसा ज्ञात होता है कि विष्णु और शिव के पूजकों में जिस प्रकार सूर के समय और उसके भी कुछ पहिले कलह और विवाद था वही, उसी प्रकार का कलह और विवाद वैदिक काल में भी रहा होगा। इसीलिए कभी हमें अन्य ग्रन्थों में भी, शिव का महत्व और महात्म्य अधिक मिलता है और कभी विष्णु का। इससे जनता की तात्कालिक मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। इसके पश्चात ब्राह्मण-ग्रन्थों में अवतार विषयक विचार स्पष्ट नहीं ज्ञात होते। कदाचित् उस समय उनके अवतार माने जाने का विचार उत्पन्न हो गया होगा, किन्तु प्रचार न हो पाया होगा या तात्कालिक जनता उस विचार को कुछ महत्व न देती रही होगी, जैसा कि आगे चलकर हम पुराण ग्रन्थों में देखते हैं। आजकल गांधीजी जिस प्रकार अवतार नहीं माने जाते, पर उनका महत्व किसी भी अवतार से कम नहीं है और जनता के हृदय में एक अस्पष्ट भावना ऐसी दिखाई देती है कि आगे चलकर सम्भव है वे अवतार समझे जाने लगें; वैसी ही परिस्थिति उस समय भी दिखाई देती थी। उसके पश्चात वामनावतारवाली कथा पर ध्यान जाता है, जहाँ वे राजा बलि से तीन पग में समस्त वसुधा को माँगकर इन्द्र का कष्ट निवारण करते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि इन्द्र अवश्य उस समय में कोई बड़ा वैभवशाली आर्य राजा रहा होगा और बलि तो स्पष्ट रूप से अनार्य राजा-सा ज्ञात होता है। वैदिक काल में इन्द्र तो सब देवताओं (Gods) में श्रेष्ठ समझा गया है और जैसी दुर्गति इन्द्र की बाद में मिलती है, उसका रंच भी आभास पहले दिखाई नहीं देता। बार-बार इन्द्र की सहायता के लिये भगवान आते हैं और वह किसी से पराजित होता है तो उसकी सहायता की जाती है। यहाँ तक कि भले-बुरे का विचार छोड़कर भी उसे क्षमा प्रदान की जाती और सब प्रकार से उसकी सहायता की जाती है। दधीचि तक अपनी हड्डियाँ उसे वज्र

बनाने के लिये दे देते हैं। इससे उक्त कथन की पुष्टि होती है कि यह अवश्य कोई आर्य राजा रहा होगा, जिसकी सहायता ऋषि-मुनि समय समय पर सब प्रकार से किया करते थे। बाद में आर्य और अनार्यों के मिलन से अथवा उनमें पारस्परिक भेद भाव के मिट जाने से उसका महत्व बहुत कम हो गया। आजकल की राजनैतिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि यह अनार्यों का प्रोपेगेंडा था, जिसने इन्द्र को इस पद पर ला पटका* पर जनता अवश्य उस वैदिक विचार को भूल गई थी, नहीं तो इन्द्र की—जो एक समय अत्युच्च पद पर था—दुर्गति न हुई होती। वामनावतार में विष्णु त्याग के अवतार के रूप में आये हैं। इसके पश्चात् के ग्रन्थों में विष्णु पर कृष्ण के रूप में जो आपत्ति आई है उसका वर्णन मिलता है, किन्तु उस समय तक विष्णु प्रमुख देव नहीं माने गये थे और न अवतार ही की कल्पना की गई थी। अभी जो तैत्तरीय आरण्यक प्रकाशित हुआ है उसके देखने से ज्ञात होता है कि इस समय से भी वे कुछ अंशों में अवतार माने जाने लगे थे। महाभारत में विष्णु इस अवतार के सम्मान से विभूषित हो

---

*इसी कथन की पुष्टि अशोक-वन एवं उसकी भूमिका तथा कतिपय अन्य ग्रंथों से भी, जो दक्षिण भारत में लिखे जा रहे हैं, होती है। आज से ७, ८ वर्ष पहिले मैंने इन विचारों को व्यक्त किया था और आज मैं देख रहा हूँ, राम-रावण के सम्बन्ध में भी वही विचार-धारायें भारतीय साहित्य में विलोड़ित हो रही हैं। राम का महत्त्व कम और रावण का अधिक प्रचारित किया जा रहा है। अखिल भारत की एकता की दृष्टि से रावण का महत्व बढ़े इसमें कोई हानि नहीं। किन्तु दोषारोपण के स्थान पर समन्वय की भावना का होना आवश्यक है।

—लेखक

गये । यहाँ एक विशेष बात ध्यान में रखने की यह है कि इस समय तक एक ही स्थान को छोड़कर कहीं कृष्ण का नाम नहीं आया था; पर यहाँ वे उसी विष्णु के अवतार के रूप में दिखाई देते हैं और इस समय कृष्ण एक प्रमुख और लोकप्रिय व्यक्ति हो जाते हैं जिनका वेदों में बिलकुल अस्तित्व ही न था । महाभारत में विष्णु का उतना ही वर्णन मिलता है जितना कि कृष्ण के लिए आवश्यक है या कृष्ण के अवतार कहलाने के लिए उचित है । अभी तक इन्द्र ही एक बड़े पूजा योग्य देव के रूप में सम्मानित था जैसा कि गोवर्धन पर्वत के उठाने की कथा से विदित होता है । देवकी-पुत्र कृष्ण का वर्णन केवल एक बार वैदिक साहित्य में आता है । यहाँ वे एक ऋषि के शिष्य के रूप में ही प्रदर्शित किये गये हैं । विक्रम की दो शताब्दी पूर्व से हम कृष्ण को नाटक के नायक के रूप में पाते हैं । इसके भी लगभग सौ वर्ष पूर्व कृष्ण यूनानी देव हरक्यूलीज़ के समान पूजित हुए ज्ञात होते हैं, जैसा कि मेगेस्थनीज़ ने लिखा है कि वह गंगा के किनारे पूजा जाता है । उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि विष्णु का मत ज्यादा प्राचीन नहीं है । [अधिक प्राचीनता में शिव ही की महिमा अधिक है । शिव का बार-बार उल्लेख भी है ।] ब्राह्मण ग्रंथों ने ही इसका प्रचार किया है । विष्णु का नाम केवल कृष्ण के सम्बन्ध ही में आता है जो एक कुल-देवता थे । एक राजपूत के कुल-देवता भी कृष्ण माने गये हैं ।

धीरे-धीरे विष्णु का महत्त्व बढ़ता गया । उनका अस्त्र 'चक्र' और वाहन 'गरुण' बनाया गया । यह भी माना जाने लगा कि वह अपनी पत्नी श्री या लक्ष्मी के साथ-जो कि सुन्दरता, आनन्द एवं विजय की देवी मानी जाती थी—वैकुण्ठ में निवास करते हैं । कहीं कहीं धीरे-धीरे विष्णु ब्रह्मा का कार्य करते हुए भी दिखाई देते हैं । नारायण से भी जो शेष या अनन्त कहलाते थे और बहुत प्राचीन देवता थे—इनका

पद नारायण हो जाता है और वे हिरण्यगर्भ कहे जाने लगते हैं। साथ ही साथ वे सृष्टि-कर्ता भी मान लिये जाते हैं और इस समय उन का पद सर्वोच्च हो नहीं किन्तु ईश्वर से परमात्मा का हो जाता है जहाँ वे अपनी इच्छानुसार सृष्टि-रचना एवं प्रलय या महाप्रलय के कार्य में प्रवृत्त होते हैं। जैसा कि इस वर्णन से ज्ञात होता है कि जब उनकी इच्छा सृष्टि-रचना की हुई तब उनकी नाभी से एक कमल निकला और उससे ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई। यहीं से हम विष्णु को संसार के कष्ट-निवारणार्थ पृथ्वी पर अवतार के रूप में जन्म लेते हुए देखते हैं। ऐसा कई बार हुआ है। कृष्ण के रूप में उनका बहुत महत्त्वपूर्ण अवतार हुआ है, जहां वे गीता में यह प्रसिद्ध श्लोक कहते हैं:—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥"

यही अवतारवाद का सिद्धान्त है। यह केवल वैष्णव धर्म की ही विशेषता नहीं है, वस्तुतः यह भारत के धार्मिक विकास को स्पष्टतया बताता है। इसका परिणाम यह हुआ कि यह जनता की इच्छा पर निर्भर रहा कि वह एक परमात्मा को माने या अनेक को। इससे अभी तक जो अनेक परमात्मा पूजे जाते थे उनमें साम्य स्थापित किया गया और जो बहु विरोध फैला हुआ था वह मिटाया गया। इस प्रकार प्राचीन के स्थान पर नवीन की सृष्टि हुई।

जनता के लिए यह आवश्यक भी था क्योंकि जनता तो केवल अंध-विश्वास और परम्परा को माननेवाली होती है। जैसा उसका नियंत्रण किया जाय वैसी ही चलने को वह तत्पर रहती है। अब कोई एक ईश को माने या अनेक को कोई रोक-टोक नहीं थी और इससे जनता में कई

प्रकार की पूजाएँ प्रचलित हो गई थीं। इसी का बहुत आगे यह परिणाम हुआ कि जब प्राकृत का स्थान देश-भाषाओं ने ग्रहण किया तब यहाँ अनेक मत, सिद्धान्त और पंथ फैले। पहले-पहल इसका कुछ विरोध अवश्य हुआ और उनमें कुछ धार्मिक जोश भी दिखाई दिया किन्तु बाद में सब प्रभाव कम होता गया और ये सब धाराएँ बनकर विशाल हिन्दू-धर्म के महासागर की ओर बहती दिखाई देने लगीं।

वल्लभाचार्यजी का जन्म एक तैलंग ब्राह्मण के यहाँ सम्वत् १५३५ (सन् १४७८ ई०) में वैशाख कृष्ण ११ को हुआ था। इनके सम्प्रदाय के लोग इन्हें अग्नि से उत्पन्न मानते हैं। भक्तमाल में इनके विषय में लिखा है कि ये विष्णु स्वामीजी के सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य और भक्त थे और गोलोक से वात्सल्य, निष्ठा और भक्ति का प्रचार करने के लिए अवतरित हुए थे। इन्होंने भगवान की मूर्ति की स्थापना कर भगवत्-भक्ति की प्रेरणा लोगों से की और अपना एक नवीन मार्ग, जो कि पुष्टि मार्ग कहलाता है, चलाया, इनका यह सेवा कार्य ऐसा था कि लोग स्वयं ही इसकी ओर आकर्षित हो जाते थे। इन्होंने भगवान के बाल स्वरूप ही की विशेष भक्ति की है।

इनका कहना यह था कि भक्त भगवान की जिस रूप से आराधना करता है भगवान भी उसे उसी प्रकार परम पद पर अधिष्ठित करते हैं वल्लभाचार्यजी को बाबा नंद माना है। पर प्रश्न यह उठा कि यशोदा किसको समझा जाय क्योंकि कृष्ण की भक्ति के लिए स्त्री पुरुष दोनों की ही आवश्यकता थी। अतएव एक ब्राह्मण कन्या से इनका पाणिग्रहण कराया गया। इनसे इनको विट्ठलदास नामक पुत्र पैदा हुआ। यद्यपि ये राधिकाजी को कृष्ण की परम प्यारी समझकर विशेष रूप से उन्हीं की पूजा करते हैं किन्तु श्रीकृष्ण को भी पूर्ण ब्रह्म सच्चिदानंद समझा जाता है। भगवान के बाल-रूप के लिए इन लोगों में बड़ी निष्ठा रहती है।

ये आंगन को घर में ऊँचा नहीं करते इस कारण कि लड़का चलते समय कहीं गिर न जाय। भगवान के शयन के समय जोर से बोलते नहीं इसलिए कि उनकी निद्रा भंग न हो जाय। इस समय कोई कोटाधीश भी उनके दर्शन को आवे तो उसे दर्शन प्राप्त नहीं होते। जो तल्लीन भक्ति इस सम्प्रदाय के लोगों में देखी जाती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इन्होंने अपने को वल्लभ इसलिए कहा कि वल्लभ उस गोप जाति का ही एक नाम है जिसमें नंद उत्पन्न हुए थे। ऐसा भी कहा जाता है कि एक बार एक साधु इनसे मिलने आया पर वह अपना बटुआ जिसमें भगवान् की मूर्ति थी एक वृक्ष पर लटका आया। मिलकर जब वह वापिस लौटा तो वह मूर्ति उसमें नहीं थी। वह फिर वापिस लौट आया तब वल्लभाचार्यजी ने कहा कि अपने इष्टदेव को छोड़कर भी कोई कहीं जाता है। उसने हाथ जोड़कर प्रार्थना की और पुनः आकर अपनी मूर्ति प्राप्त की। कई लोग यह भी कहते हैं कि इनके पुष्टि मार्ग का यह आशय है कि भगवान को खूब पुष्ट करना। उनको भोग लगाना, खूब अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाना और सेवा शुश्रूषा करना चाहिये और व्रत, उपवास संयमादि करने की आवश्यकता नहीं। इसमें प्रथमांश तो व्यवहार में ठीक वैसा ही है किन्तु अन्तिम बात ठीक नहीं है। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थ देखने व विद्वानों के पूछने पर हमें ज्ञात हुआ कि ऐसा नहीं है। इस सम्प्रदाय के लोग व्रत, उपवासादिक भी करते हैं। शृंगार में यद्यपि इनकी तल्लीनता है किन्तु तपस्या करने एवं वैराग्य धारण करने को ये कोई बुरा नहीं मानते। और न ऐसा कहीं इनके सम्प्रदाय के ग्रन्थों में ही उल्लेख मिलता है। गीता को ये सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ मानते और इसके सिद्धान्तों का पालन करते हैं; किन्तु उसके ज्ञान मार्ग को—कर्म मार्ग को नहीं। यह अवश्य है कि कुछ शृंगारिक प्रवृत्ति होने से इस सम्प्रदाय में कई दोष आ गये हैं। पर यह बात कई अन्य सम्प्रदायों में भी दृष्टि

का ध्यान तक भूल गये। इनकी रचना बड़ी सुन्दर है और कई विद्व
तो इनके भ्रमरगीत को सूरदास के भ्रमरगीतों से अच्छा मानते हैं
इसमें शक नहीं कि इनकी रचना में सहृदयता और कवित्व का अ
परिपाक हुआ है। सूरदासजी के समान इन्होंने भी भ्रमरगीत
उद्धव-गोपी-संवाद लिखे हैं। उसी संप्रदाय के होने के कारण इन्हें
भी अपनी रचनाओं में सगुण परमात्मा की भक्ति को ही श्रेष्ठ बता
है। छन्द-रचना भिन्न होने पर भी, पात्र, कथा एवं लेखन-शैली
एकता पाई जाती है। अष्टछाप के कवियों में भी कवित्व, सगुणोपासना,
भक्ति आदि का साम्य पाया जाता है, जो स्वाभाविक है। नंददास की
उक्तियाँ अनूठी अवश्य हैं और शायद सूर के अनुकरण अथवा स्पर्धा में
लिखी गई ज्ञात होती हैं किन्तु विदग्धता होते हुए भी स्वाभाविकता
उतनी नहीं है, जितनी सूर में है। नंददास की गोपियाँ तर्क करनेवाली
विदुषी स्त्रियाँ हैं, पर सूरदास की गोपियाँ साधारण, भोली ब्रजबालाएं।
नंददास के आमने सामने तर्क-वितर्क, खंडन-मंडन करनेवाले दो दल
उपस्थित किये हैं, पर सूर की गोपियां अपने विरह में स्वाभाविक रूप
से जो निकल जाता है, वही प्रकट करती है। चतुर्भुजदासजी कुम्भन-
दासजी के पुत्र थे। जब ये ग्यारह दिन के हुए तब ही इन्हें गुरु मन्त्र
दिलवा दिया गया। और पीछे तो ये श्रेष्ठ भक्तों में से हुए। छीत
स्वामी मथुरा के निवासी थे। कपूर वार्ता में इनके विषय में लिखा
है कि ये मथुरा के पाँच प्रमुख गुण्डों के सरदार थे और लोगों को ठगा
करते थे। एक बार उन्होंने सोचा कि गोस्वामी विट्ठलदासजी सब लोगों
को वश में कर लेते हैं, यदि हम को करें तब हम जानें। यह सोचकर
वह एक खोटा रुपया और एक खराब नारियल लेकर गोसाईंजी के
पास पहुँचे। वहाँ गोसाईंजी ने रुपए के पैसे भुनवाये जब पैसे आगये
तब नारियल फुड़वाया गया। उसके अन्दर अच्छी गिरी निकली। यह

देखकर छीत स्वामी भी इनके भक्त और कवि हो गये। गोविन्द स्वामी सनाढ्य ब्राह्मण थे। आँतरी ग्राम में रहते थे। ये भी परम भक्त हुए हैं। इन सब ने श्रीकृष्ण का जितना गुणगान किया है, उसका हिन्दी साहित्य पर अमिट प्रभाव है, जिस समय ये भक्त कवि अपने सदुपदेशों एवं मधुमयी वाणी से अमृत सिंचन कर रहे थे उस समय का क्या कहना? उस समय गोकुल, मथुरा, व्रजभूमि कृष्णमय हो ही रही थी। वास्तव में वल्लभस्वामी चाहे अवतार न रहे हों; कृष्ण का अवतार न हुआ हो, किन्तु उस समय जो आनन्दातिरेक व्यक्त होता था, वह उस समय की देन है और यदि गोस्वामी तुलसीदास सदृश महाप्रतिभाशाली प्रकाण्ड विद्वान् नही हुआ होता तो समस्त उत्तर भारत ही कृष्णमय हो जाता। उस प्रबल वेग के समक्ष मत-मतान्तर, पथादि सब एक ओर रह जाते; क्योंकि बंगाल को श्री कृष्ण चैतन्य ने कृष्ण भक्ति से ओत-प्रोत कर ही दिया था। इधर से अष्टछाप के अष्ट-काव्य महारथी कृष्ण-काव्य रचना में जुटे हुए थे। जो प्रवाह इन्होंने प्रवाहित किया वह एक साधारण स्त्रोत-मात्र ही नही था जो साधारण गर्मी में शुष्क हो जाता। वह बहता रहा और आज तक उसमें जल प्रवाहित हो रहा है। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक न होगा कि इस प्रबल स्रोत के साथ अकेले तुलसी ने भी वह स्त्रोत प्रवाहित किया जो अक्षय और अनन्त है और सदा हिन्दी-साहित्य पर अपना अमिट प्रभाव बनाये रखनेवाला है।

मानव-जीवन को ही यदि हम संगीतमय मान लें तो अत्युक्ति न होगी। संगीत ही जीवन है। मानव-जीवन का एक बड़ा भाग करुणा-मय है। यह करुणा हमारी हृदय तंत्री को झंकृत कर देती है, यह झंकार जिस अलौकिक राग को जन्म देती है, वह भी संगीत ही है। आधुनिक रहस्यवादी कवियों एवं उनके अनुयायियों में जो हम

संगीत और सूर का तद्विषयक ज्ञान

रुदन देखते हैं, उसका कारण शायद यही है। यह संगीत मानव-हृदय के एक विस्तृत भाग पर अधिकार किये हुए है। समस्त ब्रह्माण्ड का एक एक अणु तक संगीतमय है। संगीत ही मानव जीवन का एक-मात्र आधार है। बिना संगीत के जीवन ही नहीं---वह शुष्क है, नीरस है। संगीत ही मनुष्य को हँसा और रुला सकता है। इसका प्रभाव बड़ा व्यापक है। असभ्य जातियों में भी संगीत और नृत्य का बड़ा महत्व है, यद्यपि अन्य ललित कलाओं से ये भी अनभिज्ञ हैं। संगीत नादाश्रित है। नाद-ध्वनि ही समस्त वसुधा में व्याप्त है। इसके झकोरों से वायुमंडल कंपायमान हो सकता है। इसी के द्वारा एक आत्मा का संदेश दूसरी आत्मा तक पहुँचता है। संसार के सब व्यापारों में संगीत ही का साम्राज्य है। कुछ शास्त्र ऐसा भी मानते हैं कि पृथ्वी केन्द्र से एक ध्वनि निकला करती है। इसलिये यह ज्ञात होता है कि भूगर्भ भी संगीत-विहीन नहीं है। ऐसा भी कहा जाता है कि वेद के पहिले नाद की उत्पत्ति हुई; तब तो यह बात और भी पुष्ट हो जाती है। भारत का जीवन ही आदि-काल से संगीतमय रहा है, क्योंकि जीवन स्वयं एक करुण संगीत है। अतएव जिस समय से मानव-प्राणी ने इस भू-पृष्ठ पर प्रथम साँस ली होगी, उसी समय से संगीत का प्रादुर्भाव हुआ होगा। भारत ने तो इसे अपनी आदिम अवस्था में ही उच्च कोटि पर पहुँचा दिया था। पर यह भारत का दुर्भाग्य है कि इसने अन्य कलाओं के साथ संगीत को भी तिलाञ्जली दे दी। इससे उसका विकास अवश्य रुक गया, पर यह संगीत ही की शक्ति थी कि वह अनेकों आघातों को सहकर भी अपनी सत्ता एवं महत्ता कायम रख सका। विदेशी आक्रमणकारियों के नृशंस हाथ सब ललित कलाओं एवं शास्त्रों को नष्ट करने में समर्थ हो सके किन्तु संगीत के समक्ष उनको भी नतमस्तक होना पड़ा। संगीत तो यहाँ की वायु के प्रत्येक अंग में व्याप्त था। यदि उस वायु को हटाकर वे विदेश की वायु ला सकते तो अवश्य संगीत का स्थानापन्न भी इन्होंने

कोई हल निकाला होगा । संगीत ही एक ऐसा विषय मुस्लिम आधिपत्य के समय रहा है जहाँ हिन्दू और मुसलमान एक साथ गले मिल गये हैं । जो कार्य काव्य नहीं कर सका है वह संगीत ने किया है । आचार्य के स्थान पर चाहे उस्तादजी लोग कहते रहे हों किन्तु उस समय संगीत की रंगभूमि पर दोनों एक थे । संगीत के विषय में यह भी कहा जाता है कि यह कुरान की शरीयत के विरुद्ध है । फिर भी इस्लाम संगीत के प्रति अप्रिय नहीं रहा और भारतीय संगीत को जब वह यहाँ अपनी दृढ़ नींव जमा चुका था अपना लिया । अन्य शास्त्रों के समान भरत मुनि ही इसके भी आदि आचार्य माने जाते हैं, किन्तु संगीत का प्रचार हमारे यहाँ बहुत प्राचीन काल से ही था । सामवेद की रचना का मूलाधार ही संगीत है । संगीत के द्वितीय महा आचार्य शारंगदेव हुए हैं । उन्होंने पिछले कई आचार्यों के विषय में लिखा है, किन्तु उनके ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं । इन दोनों आचार्यों के समय में मोटे रूप से यही अन्तर है कि जहाँ पहले केवल तीन स्वर माने जाते थे वहाँ शारंगदेव के समय तक सात स्वर माने जाने लगे थे और वे ही आज तक माने जाते हैं । सूर का समय संगीत के पूर्ण विकास का काल है । यह वह उच्च शिखर है जहाँ तक उसका उन्नति मार्ग चढ़ता आया और वहाँ से फिर उसका उतार प्रारंभ हुआ और उसकी रूप-रेखा ही विकृत, विलीन सी और क्षीण होती गई ।

संगीत में गायन, वाद्य एवं नृत्य तीनों सम्मिलित हैं । संगीत का अर्थ यह है कि जो सम्यक् प्रकार से गाया जा सके । संगीत-शास्त्र सात भागों में बँटा हुआ है—स्वर, राग, ताल, नृत्य, भाव, कोक और हस्त । गीत दो प्रकार के होते हैं—एक यंत्र, दूसरा गात्र । जो वीणा आदि वाद्य यंत्रों से गाया जा सके, वह यंत्र है एवं जो कंठ से गाया जाये वह गात्र । गीतों के छः अंग भी माने जाते हैं, यथा पद, तान, विरद, ताल, पाट और स्वर । संगीत में अक्षरों की मात्रा-शुद्धि एवं

पुनरुक्ति आदि दोषों का विचार नहीं किया जा सकता। गाना-बजाना दो प्रकार का होता है। ध्वन्यात्मक एवं रागात्मक। रागात्मक चार प्रकार का होता है। एक स्वर प्रधान जिसमें स्वर के आग्रह से ताल की मुख्यता न रहे। दूसरा उभय प्रधान जिसमें तान बराबर रहे और स्वर भी सुन्दर हो। तीसरा शुद्धता प्रधान जिसमें राग के शुद्ध रूप रहने का आग्रह हो। चौथा माधुर्य-प्रधान जिसमें राग का कुछ रूप बिगड़े तो बिगड़े, पर माधुर्य रहे। संगीत के स्वर ये हैं—षड्ज, ऋषभ गांधार, मध्यम्, धैवत, पंचम एवं निषाद। षड्ज मयूर की बोली के समान, ऋषभ गाय की, गांधार अजा की, मध्यम् क्रौंच की, धैवत कोकिल की, पंचम अश्व की, एवं निषाद गज की बोली के समान है।

इन सप्त स्वरों को संक्षेप में स, रि, ग, म, प, ध, नि, लिखते हैं। ये सातों स्वर शरीर की वायु-वाहिनी नलिकाओं के आधार पर निश्चित किये गयेहैं। सबसे ऊँचे स्वर को निषाद कहते हैं। इससे ऊँचा स्वर और नहीं होता। पंचम स्वर उत्तम इसलिए समझा जाता है कि इसमें प्रथम पाँचों स्वरों के सम्मिश्रण से एक अत्युत्तम राग आलापित होता है।

खरज से ऋषभ तक पहुँचने में जहाँ स्वर बदले उस वस्तु को मूर्च्छना कहते हैं। गान में स्वरों को गले में कँपाने को भी मूर्च्छना कहते हैं। जो स्वरों को आरम्भ करे एवं सूक्ष्म रूप से उसमें व्याप्त रहे उसे श्रुति कहते हैं। ये २२ होती हैं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी या काशी नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में एक महाराष्ट्र विद्वान ने इनकी विवेचना कर यह सिद्ध करके का प्रयत्न किया था कि श्रुतियाँ और अधिक हैं।

ताल—समय का सूक्ष्म से सूक्ष्म एवं बड़े से बड़ा समान विभाग ताल कहलाता है। ताल की उत्पत्ति इस प्रकार की कही जाती है—महादेवजी के नृत्य तांडव का 'ता' तथा पार्वतीजी के नृत्य लास्य से 'ल'

लेकर इस शब्द का सृजन हुआ है।

नृत्य—नृत्य भी विशेपकर उपर्युक्त दो ही प्रकार का माना गया है—यथा ताण्डव व लास्य। जब नृत्य उग्र, मानविक ओजमय रहता है, तब उसे तांडव नृत्य कहते हैं तथा जब वह मधुर, स्त्रीत्वयुक्त एवं सरस रहता है, तब उसे लास्य कहते हैं। क्रमश: शिव एवं पार्वती के नाम से इनका सम्बन्धित होना ही इनके भावों का स्पष्टीकरण है।

भाव निर्विकार चित्त में प्रीतम व प्रिया के संयोग अथवा वियोग के, सुख दुःख के अनुभाव से जो प्रथम विकार हो वह संगीत में भाव माना जाता है।

कोक—नायक, नायिका, रस, अलंकार, उद्दीपन आदि का ज्ञान 'कोक' कहलाता है तथा नृत्य-गायन आदि में हस्तादि चलाना 'हस्त'।

संगीत के सम्बन्ध में कई बातें प्रचलित हैं जैसे अमुक राग अमुक प्रकार गाना, अमुक समय गाना एवं अमुक राग को ठीक प्रकार से गाने से यह फल होता है अथवा हानि होती है। संगीत वही प्रशस्त है जिसमें अनुरोग हो। गानेवाले अथवा सुनने वाले में यदि अनुरक्ति का अविर्भाव नहीं हुआ तो वह संगीत संगीत नहीं।

संगीत-विपयक इस ज्ञान की कसौटी पर जब सूर कसे जाते हैं, तब वह बहुत ऊँचे उठ जाते हैं और उनका सच्चा मूल्य आँका जा सकता है। वास्तव में यदि काव्य और संगीत का सच्चा समन्वय कोई प्रकृत रूप से कर सका है तो वह सूर ही हैं। तुलसी को यद्यपि हम भुला नहीं सकते, पर सूर की सरस लहरी संगीत के उपयुक्त उपकारी है और उसका सुबोधपन उसके गुण-गौरव और महत्ता को और भी कई गुणा अधिक बढ़ाने में समर्थ है। जहाँ तुलसी की संस्कृत-पदावली संगीत के माधुर्य को किन्हीं अंशों में कम कर देती है वहाँ सूर की प्रकृत प्रसवित होनेवाली शब्द लहरी समान रूप से स्वाभाविकता, सादगी, अल्हड़पन

जीवन में ही उनका काव्य जनप्रिय हो सका। उसे आकर्पित और भक्ति-मय कर सका। सूर के अक्षर-अक्षर में संगीत मुखरित हो उठता है, संगीत जव काव्यमय होता है तव सोने में सुगंध का काम करता है, वड़ा व्यापक और प्रभावोत्पादक होता है। सूर का काव्य भी संगीत के सम्मिलन से ऐसा ही हो गया है।

यह भी हमे नहीं भूलना चाहिये कि सूर ने इतना गीति-काव्य (Lyric poems) लिखा है जितना हिन्दी क्या किसी भी विश्व की उन्नत भापा में सर्वथा अप्राप्य है, और जैसे-जैसे सूर के संगीत-ज्ञान पर खोज और विवेचन होगा वैसे-वैसे सूर केवल महाकवि ही नहीं महा संगीतज्ञ भी माने जायेंगे और यदि अत्युक्ति न समझी जाय तो मैं यह निश्चय-पूर्वक और दृढता से कह सकता हूँ कि विश्व में उनका अद्वितीय स्थान होगा।

अन्य अनेक कवियों एवं महापुरुषों के समान सूरदास के संवंध में भी वहुत कम ज्ञान है। विस्तृत विवरण की तो कौन कहे जन्म एवं मृत्यु तिथि तक लिखने का भाव हमारे यहाँ नहीं रहा है। यह अवश्य

सूर का संक्षिप्त वृत्त

हमारे यहाँ के कवि करते रहे कि वे ग्रंथ प्रणयन की तिथि दे दिया करते थे। इससे एवं इतिहास के आधार से कई ज्ञातव्य वातों का पता लग जाता है। मिश्रवन्धुओं के अनुमान से इनका जन्म संवत् १५४० एवं मृत्यु १६२० के लगभग हुई। चौरासी वैष्णवों की वार्ता एवं भक्तमाल के अनुसार सूरदास सारस्वत व्राह्मण थे और इनके पिता का नाम रामदास था। ये सीही ग्राम के निवासी थे और इनके माता-पिता निर्धन थे। ऐसा भी कहा जाता है कि जव यह आठ वर्ष के थे उस समय ये अपने माता के वहुत आग्रह करने पर भी एक तीर्थ में एक-साधु के पास रह गये। ये एक अच्छे गायक थे और गीत वना वनाकर लोगों को सुनाया करते और

ःिया करते थे और गऊघाट पर रहा करते थे। इनके विषय कहा जाता है कि ये जन्मान्ध थे; किन्तु विद्वानों ने इनके ग्रन्थों यन कर एवं उसमें वर्णित विषय की बातों पर विचार कर यह किया है कि ये जन्मान्ध नहीं थे और वास्तव में ये जन्मान्ध लूम पड़ते हैं। इनका विस्तृत ज्ञान, इनका प्रकृति अवलोकन, का यथार्थ वर्णन, मानवी स्वभाव का अनुशीलन आदि कई ... के साहित्य में इतनी प्रचुरता से प्राप्त होती हैं कि इन्हें जन्मान्ध मानने में सन्देह होता है। इनके अन्धे होने के विषय में एक कथा भी प्रसिद्ध है किन्तु उसमें कितना सत्यांश है यह कहना कठिन है। कथा यों है, एक बार इन्होंने एक सुन्दर स्त्री को देखा और देखकर उस पर इतने मोहित हो गये कि बार-बार उसके घर का चक्कर लगाने लगे। यहाँ तक कि एक बार तो ये उसके घर के अन्दर भी चले गये और उस स्त्री से प्रणय-याचना की। किन्तु उसके उपदेश से या स्वयं हृदय में कुछ ज्ञान उत्पन्न हो जाने से वापिस लौट आये। ऐसा भी कहा जाता है कि एक रात्रि को जब ये उसके प्रकोष्ठ में पहुँचे तो एक लटकते हुए सर्प को रस्सी समझकर उसके सहारे चढ़े थे। वापिस लौटने पर इन्हें अपनी करनी पर बड़ा पश्चाताप हुआ और अपने हाथों अपनी आँखें फोड़ लीं। इस प्रकार के कथन अन्य महात्माओं के विषय में भी प्रचलित हैं और इन सब में कुछ न कुछ सत्यांश हो सकता है। कारण कि सृष्टि के प्रारंभ से ही काम और वासना का दौर दौरा इस संसार में चला आ रहा है। कई महात्माओं के साथ एक ही प्रकार का कथन मिलना कुछ असंभव नहीं है। वास्तव में देखा जाय तो महापुरुषों की यही जीवनी है। जन्म और मरण की तिथियोंकी साधारण घटनाओंसे समन्वित मध्यकाल को किसी महापुरुष की जीवनी मानना तो अनुचित ही नहीं, उस कविश्रेष्ठ के प्रति अन्याय करना है। महाकवि की जीवनी तो

उन सरस भावुकतामय, सहृदयता से परिपूर्ण घटनाओं की समष्टि है जिसके अन्दर अनुभूति की अविरल धारा, अनवरत रूप से प्रवाहित होती रहती है, जिसके हृदय पट रूपी यंत्र विशेष पर संसार की घटनाओं के चिन्ह अंकित होते रहते हैं, जिसके हृदय-गिरि से भावों और रसों के स्त्रोत बहा करते हैं। तुलसी की नहीं महाकवि तुलसी की जीवनी का श्रीगणेश "हम तो चाखा प्रेम रस पत्नी के उपदेश" वाली घटना से होता है। महाकवि वाल्मीकि की जीवनी युगल क्रौंच पक्षी के जोड़े के करुण अन्त से शुरू होती है। महाकवि कालिदास की जीवनी पत्नी के धिक्कार से प्रारंभ होती है। ये ही सरस, भावुकता से परिपूर्ण घटनाएँ किसी कवि की सच्ची जीवन गाथाएँ हैं। इनमें विश्वास करने में चाहे किसी को हिचकिचाहट हो। पर मानव-जीवन सदा से ही इन्हीं स्रोतों में से प्रवाहित होता आया है। ऐसी घटनाएँ ही भावों को चरम सीमा पर पहुँचा सकती हैं, मनुष्य को कवि बना सकती हैं। यदि ये अथवा ऐसी घटनाएँ घटित न हों तो प्रतिभा अपना पथ छोड़ दे, कवित्व की अनुगामिनी होना छोड़ दे। इसी प्रकार सूर की उक्त घटना में सत्यांश कितना है इसका पता लगाना कठिन है, पर सूर के हृदय की जीवनी के सत्यांश का सार तत्व तो वही है, जिससे सूर सूर हो सके, महाकवि हो सके। बिना भाव विभोरता के कवि होना बिना जल प्रवाह के धारा का होना है। पर मानवी जीवन का सिलसिला तो इस प्रकार रहा, जो यद्यपि कवि जीवनी के लिए, महत्वपूर्ण नहीं, पर शायद किसी की मनस्तुष्टि उससे ही हो जाय।

एक बार गऊघाट पर महाराज वल्लभाचार्यजी पधारे थे। सूरदासजी ने जब इनके आगमन के विषय में सुना तब ये भी उनसे मिलने गये। इस समय जब आचार्यजी ने इनसे कोई पद गाने के लिए कहा तब इन्होंने "हौं हरि सब पतितन को नायक" एव "प्रभु मैं सब पतितन

का टीको" वाले पद कहे। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि जब ये गऊघाट पर रहते थे और अपने जीवन पर पश्चाताप करते रहते थे तभी के विनय-सम्बन्धी पद हैं। वल्लभाचार्यजी ने इनको प्रतिभाशाली समझ कहा—सूर तुमने भगवान की विनय तो बहुत करी अब कुछ भगवान की बाल-लीला गाओ। उस समय से ये भक्त हो गये और वल्लभाचार्यजी की वात्सल्य-भक्ति का इन पर खूब प्रभाव पड़ा। इनका मस्तिष्क उर्वर और प्रतिभा-सम्पन्न तो था ही बस फिर क्या था, उस ओर प्रवाहित हुआ तो उसने उस सूरसागर की रचना की जो विश्व-साहित्य में अग्रणी है। इस समय ये नये-नये पद रचते जाते थे और आचार्यजी को सुनाया करते थे। वे भी इनका उत्साह बढ़ाया करते थे इस प्रकार उत्तरोत्तर इनकी प्रतिभा एव साहित्य की वृद्धि होती चली गई।

एक बार सूरदासजी मार्ग में चले जाते थे तब इन्होंने चौपड़ खेलते हुए कुछ लोगों को देखा और उपदेश दिया। उस समय उन्होंने यह पद कहा 'मन तू समझि सोच विचार'। बाद में ये श्रीनाथजी की सेवा किया करते और पद बना-बनाकर सुनाया करते थे। एक बार सूरदासजी ने 'देखो देखो हरि जू को एक स्वभाव' वाला एक पद कहा तब चतुर्भुज-दासजी ने कहा कि भगवान का यश तो तुमने बहुत वर्णन किया, अब महाप्रभु आचार्यजी का भी तो यश गाओ। तब सूरदासजी ने कहा कि मैंने तो समस्त पद उन्हीं पर बनाये हैं। फिर भी उन्होंने यह पद गाया

"भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ नख-चन्द्र छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो॥
साधन और नहीं या कलि में जासों होत निवेरो।
सूर कहा कहि दुबिध आँधरो बिना मोल को चेरो॥

मृत्यु के कुछ समय पहिले सूरदासजी पारासोली चले गये और वहाँ जब गोस्वामीजी ने इनसे पूछा कि तुम्हारी चित्त-वृत्ति कहाँ है, तब

सूरदासजी ने जो पद कहा वह बहुत ही मार्मिक एवं उत्कृष्ट है।

"खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
चलि-चलि जात निकट श्रवनन के उलटि-पुलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुण अटकै नातरु अब उड़ि जाते॥"

पद समाप्त होते ही नेत्र-खंजन सदा के लिए उड़ चले।

सूरदासजी के निम्न लिखित पाँच ग्रन्थ कहे जाते हैं। सूरसारावली, सूरसागर, साहित्य-लहरी (दृष्टकूट), नलदमयन्ती और व्याहलो। इनमें प्रथम तीन प्रकाशित एवं प्राप्य हैं, और शेष दो अप्राप्य।

सूर के ग्रन्थ

अतएव सूर साहित्य पर विचार करते समय प्राप्य तीन ग्रंथों पर ही दृष्टि सीमित रहेगी। सूरसागर सारावली एवं सूरसागर के पृष्ठादि के लिए मैंने श्री वेंकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित सूर सागर का एवं साहित्य लहरी के लिए सरदार कृत टीका का एवं बाबू हरिश्चन्द्रजी की टीका का सहारा लिया है।

सूरसागर-सारावली ३८ पृष्ठों में समाप्त हुई है। इसमें प्रथम 'बन्दौं श्री हरिपद सुखदाई' वाला पूर्ण पद है और उसके नीचे टेक गायन के लिए। इसके पश्चात सरसी एवं सार छन्दों के ११०६ द्विपद छंद और

सूरसागर-सारावली

हैं। इसके विषय में यह कहा जाता है कि यह सूरदासजी रचित सवा लाख पदों का सूचीपत्र है। सारावली के ऊपर ऐसा भी लिखा है और मिश्रबन्धुओं ने भी इसी के अनुसार इसे सूची ही माना है, पर मेरी समझ में यह सूची नहीं है। सूरसागर पढने के उपरांत मैंने सारावली भी पढ़ी पर मुझे यह सूची नहीं, प्रत्युत सारावली ही जँची। वास्तव में यदि उसे सूची माना जाय तो ऐसा मानना होगा कि उनके

कई उत्तम उत्तम पद जैसा कि कहा भी जाता है, छूट गये हैं। और सूरदासजी ने सूरसागर के जो छोटे-बड़े स्कन्ध बनाये हैं, वे दशम स्कंध के पूर्वार्ध को छोड़कर सब प्रायः बराबर ही रहे होंगे, पर ऐसा नहीं है। मेरा खयाल है कि ऐसे ही पद नष्ट हुए हैं जो साधारण कोटि के होंगे, अथवा उनके पदों से इतना अधिक साम्य होगा कि उनकी आवश्यकता ही न हो या उनके पद नष्ट ही नहीं हुए हों। सूरसागर से पीछे सारावली की रचना हुई यह तो बात निश्चित और स्वयंसिद्ध है ही। यदि सवा लाख पदों की ही सूची होती तो वह इससे बड़ी होती और प्राप्य सूरसागर भी अवश्य ही अधिक बृहदाकार होता; क्योंकि सूर सागर से सारावली उत्कृष्ट नहीं है। कोई भी वह चाहे सूरदासजी रहे हों अथवा अन्य कोई या जनता, उसने सूरसागर के पदों को नष्ट होने दिया हो और सारावली को नष्ट होने से बचाया हो, ऐसा नहीं हो सकता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह सारावली इसी सूरसागर के आधार पर बनी है और यदि स्वयं सूरदासजी ही ने इसका संकलन किया है, और ऐसा है भी तो उनके पद नष्ट नहीं हुए वरन उन्होंने स्वयं अनुपयोगी एवं अत्यधिक साम्य रखनेवाले अनुत्तम पदों को सूरसागर में स्थान नहीं दिया। सारावली मैं इसे इसलिये कहता हूँ कि इसमें संक्षेप में समस्त सूरसागर का सार दिया गया है। इसमें एक बात और ध्यान देने की है वह यह कि सूरदासजी ने उचित समानुपात से इसका सार नहीं लिखा है। ऐसा ज्ञात होता है, कि कई अवतारों के वर्णन में व अन्य कथाओं के वर्णन में उन्होंने सूरसागर में कुछ कम लिखा था उसे यहाँ कुछ बढ़ा दिया है और वहाँ जिसका वर्णन वे विस्तृत रूप से कर आये हैं उसको संक्षिप्त कर दिया है। इसकी रचना करने का उनका कदाचित् एक उद्देश्य यह भी रहा हो—जैसा कि इसके पढ़ने से मुझे ज्ञात होता है, जो वैष्णव भक्त या उनके सम्प्रदाय के लोग

समस्त सूरसागर का पाठ न कर सकें और उसमें वर्णित कथा से ही सन्तुष्ट हो जाना चाहें वे अल्प समय में अपनी जिज्ञासा की तृप्ति इसमे कर लें। अतएव इसे सूची नहीं बल्कि सारावली मानना ही अधिक उचित है। इसकी भाषा भी मु क सूरसागर के कई शिथिल पदों, वर्णन आदि से अच्छी प्रतीत हुई। इसमें एक विशेषता और है वह यह कि यद्यपि यह सूरसागर के उत्कृष्ट पदों की समता नहीं कर सकती, किन्तु इसमें कथा का प्रवाह नियमित एवं समान रूप से प्रसवित होता चला गया है, इसलिये हम इसे उनकी प्रबन्धरचना भी कह सकते हैं। पर आश्चर्य यह है कि सूरसागर वास्तव में प्रबन्ध-रचना नहीं है। उसे कई लोग ऐसा मानकर कहते हैं कि कथा बीच बीच में शिथिल हो गई है। वह बाह्य रूप मे भले ही प्रबन्ध रचना दिखाई दे पर है नहीं। प्रबन्ध रचना यदि कोई उनकी है तो यही सारावली। इसका सूरदासजी ने स्कंधवार भी सारांश नहीं लिखा है। समस्त बारह स्कंधों का सारांश एक साथ ही लिखते गये हैं। और न यह ऐसी प्रतीत होती है कि महाकवि ने सूरसागर की पुनरावृत्ति कर इसका सारांश लिखा है; इससे भी हमारी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है। सूरसारावली के संबंध में मान० श्री द्वारिकाप्रसादजी मिश्र का निश्चित मत है कि वह सूरदासजी की लिखी नही है, जब सूरसागर का सग्रह ही सूरदासजीने नही किया... तब उनके द्वारा उसका सूचीपत्र तैयार किया जाना असंभव बात है।... किसी निम्न श्रेणी के कवि ने सूरसागर का संग्रह हो चुकने पर सूरसागर सारावली बनाई।

सूर का यह ग्रन्थ भी अनुपम है। शब्दों के गुम्फन में सूर ने जिस प्रकार इसमें सुन्दर भावों को सन्निहित किया है उसे चाहे कोई उच्च-कोटि का साहित्य न माने या अधम कोटि के साहित्य में परिगणना करे

सूर के दृष्टिकूट या साहित्य-लहरी

किन्तु है यह अनूठी चीज। इसमें यद्यपि वह माधुर्य, मार्दव एवं सौष्ठव नहीं है जो सूरसागर में दृष्टिगोचर होता है, किन्तु वैसी ही बहुत कुछ झलक शब्दावरण को निकाल देने पर दिखाई देने लगती है, जैसे नारियल मे नरेटी को पृथक कर देने पर पौष्टिक, सुस्वादु एवं उज्ज्वल गरी मधुर निकल आती है। कला पक्ष तो इसमें प्रधान है ही, भाव पक्ष में भी पूर्ण प्रबलता दिखाई देती है। इस ग्रन्थ पर किसी विद्वान द्वारा लेखनी चलाना ही उपयुक्त होगा। यहाँ केवल कुछ सरल उदाहरण इसीलिए दे रहा हूँ कि सूर-साहित्य पर लिखते समय साहित्य लहरी पर भी लिखना आवश्यक है। इसी कमी की पूर्ति करने के लिए मैंने कुछ साहस किया है। यदि इस पर न लिखा जाय तो विषय-वर्णन अधूरा रह जाता है। पर इतना मैं अवश्य कहूँगा कि इसमें भी कई पद ऐसे हैं जिनकी समता सूरसागर के सर्वोत्कृष्ट पदों से की जा सकती है। एक उपयोगिता इस ग्रन्थ की और हो सकती है। वह यह कि, यदि इसे कोई काव्य की, या काव्यानन्द की दृष्टि से न पढ़े तो न पढ़े, पर अपना साहित्यिक, शाब्दिक एवं सम्बन्धात्मक ज्ञान बढ़ाने के लिए यह ग्रंथ बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

साहित्य लहरी के संबन्ध में मा० मिश्रजी का मत है कि उसमें दिये गये पद सूरदास से ही लिये गये हैं और सूर-रचित हैं। इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं दिखता। संग्रहकार अवश्य सूरदासजी नहीं हो सकते। संभव है, रहीम ने ही इस प्रकार के पदों को चुनकर अलग संग्रहीत किया हो; परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है।

श्याम और राधा दोनों ने कुंज-भवन में जाने का निश्चय कर लिया था। राधा तो पहुँच गई पर कृष्ण अभी तक नहीं आये हैं। राधिका बार-बार चिन्तित होकर उन्हीं की प्रतीक्षा कर रही है। ऐसी अवस्था

में बड़ी विकलता होती है, जी बहुत चाहता है कि यह करूँ, वह करूँ; किन्तु उसका चित्त किसी ओर नहीं लगता। राधा भी प्रतीक्षा में, क्षण-क्षण में कभी अपने भूषणों को देखती है, कभी वस्त्रों को सँभालती है और दुखी हो होकर साँसें ले रही है। इसी पर एक सखी कहती है:—

"आज अकेली कुंज भवन में बैठी बाल बिसूरत।
तरु-रिपु-पति-सुत की सुच सौंची जान सीवगी मूरत।
दूर भूषन खन-खन उठाइ दै नीतन हरि घर हेरत।
तनु अनुगामी मनि में मैके भीतर सुरुप सकेरत॥
ताहि-ताहि सम करि-करि प्यारी भूषन आनन माने।
सूरदास वै जो न सुलोचन सुंदर सुरुचि बखाने॥"

राधा और कृष्ण दोनों की जुगल जोड़ी का वर्णन सूरदासजी इस प्रकार करते हैं। एक सखी की दूसरी सखी से उक्ति है:—

"देखि सखी पाँच कमल द्वै संभु।
एक कमल व्रज ऊपर राजत, निरखत नैन अचंभु॥
एक कमल प्यारी कर लीन्हें कमल सकोमिल अंग।
जुगल कमल सुत कमल विचारत प्रीति न कबहूँ भंग॥
षट जु कमल मुख सन्मुख चितवत बहु विधि रंग तरंग।
तिन में तीन सोम बंसी बस तीन-तीन सुक सीपन्न अंग॥
जेइ-कमल सनकादिक दुर्लभ जिनते निकसी गंग।
तेई कमल सूर नित चितवत नीठ निरंतर संग॥"

श्याम के विरह में एक बाला सखी से कह रही है—हे सखी, श्याम से प्रीत कर मैंने अपना जीवन व्यर्थ गँवाया। क्योंकि प्रेम होते तो हो जाता है, पर उसका छूटना असम्भव रहता है। इसी आग में वह भी जल रही है। शान्तिदायक जितने पदार्थ हैं वे भी आज उसे जला

रही है और इसका उस पर इतना प्रभाव पड़ा है कि उसे इस संसार से ही ग्लानि उत्पन्न हो रही है। उसे कुछ अच्छा नहीं लगता है। वह कहती है:—

> "सजनी जो तनु वृथा गँवायो।
> नन्द नँदन ब्रजराज कुँवर से नाहक नेह लगायो॥
> दोध सुतधर रिपु गहे निसीसुत सुत सब अंग लगाये।
> सिर-सुत-वाहन-रिपु-सुत से मम तन ताप तपाये॥
> घर आँगन दिसि विदिसि सूर जान यह सूरत देखी।
> सूरज प्रभु ते कियो पाहिवत है निरोद विलगी॥"

सूरसागर पर विवेचन करने के पहिले दो बातों पर प्रकाश डालना आवश्यक है। एक तो जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, सूरसागर कोई प्रबन्ध-काव्य नहीं है, यद्यपि उसमें श्रीमद्भागवत की कथा कही गई है,

सूरसागर

पर वह भागवत का अनुवाद नहीं है। इसलिए सूरसागर पर विचार करते समय हमें उसे प्रबन्ध काव्य की दृष्टि से नहीं देखना चाहिये। कई समालोचक स्वयं उसे प्रबन्ध काव्य मान लेते हैं और फिर यह कहते हैं कि इसमें कथा-प्रवाह नहीं अथवा स्थान-स्थान पर रस विरस हो गया है। यह कहना अनुचित है। कोई भी काव्य केवल कथा-सम्बन्धी पद लिख देने से एवं उन्हें किसी समय क्रमवार कथा के अनुरूप जमा देने से ही प्रबन्ध काव्य नहीं कहला सकता। इसी दृष्टिकोण को रख सूर और तुलसी की आलोचना करते समय भी कई समालोचक यह कहते देखे गये हैं कि सूर में तुलसी के समान कथा कहने की शैली ठीक नहीं है। कथा कथन की दृष्टि से सूर और तुलसी की तुलना करना ही विभिन्न प्राणियों को एक मानकर तुलना करना है। सूर ने स्फुट पद रचना की है अतएव सूर गीति-काव्य के रचयिता हैं, एवं उन पर इसी दृष्टि से

विचार करना उचित एवं न्याय-संगत है। कइयों ने इस भंग कथा-प्रवाह को मिश्री की डली में फाँस तक लिखा है; परन्तु उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिये था कि सूरसागर एक जमाई हुई मिश्री के टुकड़े कर एक थाल में पृथक रखी हुई डलियाँ हैं। एक-एक डली का स्वाद लेने के लिये कुछ समय अवश्य चाहियेगा। यह फाँस नहीं है; बल्कि यह इसलिए है कि उस डली का पूर्ण स्वाद लिया जाय और उसकी पूरी मिठास मुँह में समाप्त होने के पहिले ही दूसरी डली मुँह में पड़ जाय। वास्तव में इस आनन्दाविक्य को यदि कोई फाँस कहे तो क्या कहा जाय। अतएव सूर की समता किसी से हो सकती है तो कबीर, विद्यापति या तुलसी के कुछ स्फुट काव्यों से हो सकती है। दूसरी बात यह है कि कई विचारक सूर के एक ही प्रकार के पदों को एक साथ सूर सागर में पाने के कारण यह कहा करते हैं कि उनसे जी ऊब जाता है। यह कहना भी अनुचित है, कारण कि जो वस्तु जिस उपयोग की है उसे उसी प्रकार से उपयोग में लाना ही बुद्धिमत्ता का काम है। सूरसागर से आनन्द उठाने के लिए या किसी भी काव्य से अलौकिक आनन्द प्राप्त करने के लिए भाव-मग्न होना जरूरी है। तुलसी के मानस के समान सूरसागर की भाषा भी ऐसी ही है कि थोड़े अभ्यास से और प्रचलित होने के कारण उसे साधारण जन भी पढ़ सकते हैं और उससे लाभ और आनन्द उठा सकते हैं।

इस विषय में भी विद्वानों का मत-भेद है कि सूरसागर के पदों का संग्रह स्वयं सूरदासजी ने किया है। कबीर के पदों, सखियों आदि के समान सूर के पदों का संग्रह भी शायद उनका नहीं है। स्फुट पद और एक ही भाव के विभिन्न पद यह स्पष्ट बताते हैं कि उनका उद्देश्य कोई काव्य-ग्रन्थ लिखने का नहीं बल्कि भगवान के समक्ष, बल्लभाचार्यजी की प्रेरणा से हृदयगत् भक्ति का प्रदर्शन था। प्रतिदिन वे कई नवीन पद बनाते और नाच-गाकर भगवान के सामने सुनाते थे। और चूंकि सूर-

दासजी अंधे थे वे अपने पद अपने मस्तिष्क-पट पर ही अधिकांशतः लिखा करते। उनके पद या तो श्रोतागण सुनकर स्मरण रखते रहे होंगे अथवा उनके लिए लिखा दिया करते होंगे, अथवा वल्लभाचार्यजी ने ही कुछ प्रबंध कर दिया होगा। ऐसा भी कहा जाता है कि बाद में महाकवि रहीम ने इनके पदों का संग्रह किया है। भक्तमाल आदि ग्रंथों से भी इसी कथन की पुष्टि होती है।

सूरसागर प्रथम स्कंध में ३४ पृष्ठ हैं। इनमें कथा भाग अत्यल्प है एवं विनय संबन्धी पदों की अधिकता है। इस स्कंध को हम सूर की 'विनय-पत्रिका' कह सकते हैं, वैसे तो द्वितीय स्कन्ध मे एवं अन्य स्कन्धों मे भी विनय-सम्बन्धी पद हैं, किन्तु विनय का जो लालित्य इसमे देखने को मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। 'विनय-पत्रिका' सदृश पद-लालित्य एव दीनता-प्रदर्शन चाहे इसमें न हो किन्तु मार्मिकता, सहृदयता, भक्ति की भावना एव व्याकुलता की इसमें कमी नहीं है। विनय-विभोर हो सूर ने जो भावों की सरिता बहाई है वह देखते ही ही बनती है।

सूरसागर के स्कन्धों का संक्षिप्त परिचय

द्वितीय स्कन्ध मे ५ पृष्ठ है। प्रारम्भ मे कुछ सरस एवं भाव-पूर्ण पद है; एव अन्त में नारद-ब्रह्मा-संवाद, २४ अवतारों का उल्लेख एवं ब्रह्मोत्पत्ति का वर्णन है। यह स्कंध प्रथम मे छोटा ही नही है, वरन पद भी उसमें उतने उत्कृष्ट नहीं है। फिर भी कुछ पद उत्तम है और साहित्यिक भक्तों के लिए तो तीन चौथाई भाग ऐसा है जिसमे उन्हें पर्याप्त आनन्द प्राप्त हो सकता है।

तृतीय स्कंध मे उद्धव-विदुर संवाद, मैत्रेय को कृष्ण का ज्ञान-संदेश, सनकादि अवतार एवं रुद्र उत्पत्ति वर्णन, सप्त ऋषि एवं चार मनुष्यों की उत्पत्ति की कथा, सुर-असुर उत्पत्ति, कपिल देव का जन्म-

प्रसंग तथा देवहूति की माता का कपिल मुनि से प्रश्नोत्तर सम्बन्धी आख्यान है।

चतुर्थ स्कन्ध में आदिपुरुष एवं यज्ञ-पुरुष के अवतार के सम्बन्ध में पार्वती विवाह, ध्रुव का आख्यान एवं भगवानावतार, पृथु अवतार, एवं पुरंजन की कथा दी हुई है। पंचम स्कन्ध में ऋषभदेव अवतार वर्णन तथा भारत का आख्यान एवं उनकी माया आदि का वर्णन दिया गया है।

षष्ठ स्कन्ध में अजामिल उद्धार की कथा, इन्द्र द्वारा बृहस्पति का अनादर, वृत्रासुर का वध, इन्द्र का सिंहासन-च्युत होना एवं पुनः उसे प्राप्त करना तथा गुरु-महिमा के संबंध का आख्यान है।

सप्तम स्कन्ध में नृसिंहावतार वर्णन, भगवान की शिव को सहायता तथा नारदजी की उत्पत्ति के विषय में कथा है।

अष्टम स्कन्ध में गज-मोचन की कथा, कूर्म अवतार समुद्र मंथन, मोहनी रूप धारण, वामन एवं मत्स्य अवतार की कथाएँ दी गई हैं।

नवम स्कन्ध में, पुरुरवा का वैराग्य-वर्णन, च्यवन ऋषि की कथा हलधर विवाह, सौभरी ऋषि की कथा, गंगावतरण की कथा तथा परशुराम अवतार वर्णन के पश्चात् विस्तृत रूप से रामकथा कही गई है। अंत में रामराज्याभिषेक के उपरांत शीघ्रता से इन्द्र का अहिल्या के प्रति दुराचार एवं गौतम का उनको श्राप, राजा नहुष को राज्य प्राप्ति एवं इन्द्राणी से कामेच्छा, अगस्त्य का शाप, संजीवनी विद्या सीखने के लिए शुक्र के पास प्रस्थान, उसकी मृत्यु एवं पुनर्जीवन तथा ययाति की कथा है।

दशम् स्कन्ध उत्तरार्ध में कंस वध के पश्चात् जरासंध का द्वारका आगमन एवं उस पर श्रीकृष्ण की विजय, कालयवन-दहन, मुचुकुन्द उद्धार, द्वारका सुषमा वर्णन, रुक्मिणी का पत्र, उसका हरण एवं विवाह, प्रद्युम्न-जन्म, मणि-प्राप्ति के लिए सत्यभामा एवं जामवंती से विवाह,

शतधन्वा का वध, अक्रूर संवाद, पच पटरानी एव अन्य सोलह सहस्र स्त्रियों से विवाह का सक्षेप में वर्णन, रुक्मिणि भक्ति परीक्षा, उषा अनिरुद्ध-विवाह, भौमासुर, द्विविद व सुनीक्षण आदि का वध, मृग एवं पुंडरीक उद्धार, सांब विवाह, नारद के संशय की कथा, जरासंध-वध, शिशुपाल-वध, शाल्व एवं वल्लभ-वध, सुदामा-दारिद्र्य-निवारण, रुक्मिणी-काजी से पुनर्मिलन एवं इन प्रसंगों के पश्चात् अंत में नारद, वेद एवं ऋषियो की स्तुति दी गई है। ग्यारहवें स्कन्ध में नारायण एवं हंसावतार की कथा है। बारहवें स्कन्ध में बुद्ध एवं कल्कि अवतार तथा राजा परीक्षित के हरिपद-प्राप्ति एव जनमेजय की कथा कही है।

दशम स्कंध पूर्वार्ध

यह स्कंध समस्त अन्य रचना से लगभग चौगुना है। वस्तुतः सूर सागर का यथार्थ भाग यही है। इसकी गहनता, गंभीरता, विशालता, शक्ति, सामर्थ्य, एवं अलौकिकता आदि गुणों की गहराई नापना महा-रथी आचार्यों का ही काम है। इस भाग में कितने रत्न, कितनी मणियाँ, कितनी निधियाँ अन्तर्हित है, कौन कह सकता है। सृष्टि के आदि से, इस सागर से, मानव-समुदाय अपने हितार्थ मणि, मुक्ता, रत्नादि निकालता आ रहा है। अब भी जैसे जैसे इसकी खोज होती जाती है, वैसे-वैसे इसके अनेक रत्न प्राप्त होते जा रहे हैं फिर भी इसकी गहनता के कारण बहुत कम काव्य-पारखी इससे रत्न प्राप्त कर सकते हैं। पर यह महा-सागर किसी को निराश नही करता। जो इससे याचना करता है वह अलौकिक निधि प्राप्त करके ही वापिस लौटता है। यह मानव-हृदय का जीवन प्रदाता है और कभी मानव-समुदाय को रस की कमी न होने देगा।

विश्वामित्र ने तो सृष्टि-रचना आरम्भ ही की थी। उसके अवशेष चिन्ह भी हम नही पाते, पर सूर की यह सृष्टि तो अमर है। नदी,

इस प्रकार का पदार्थ—काव्य—भी अलौकिक ही रहता है। सुप्त मानवात्माओं को जागृत कर सकता है। मृतात्माओं में जीवन डाल सकता है। नश्वर भौतिक शरीर को अमर बना सकता है। गिरे हुए राष्ट्रों को उन्नत और निर्धन राष्ट्रों को सम्पन्न बना सकता है। वह सगर-पुत्र मन्दाकिनी की एक ऐसी निर्मल धारा प्रवाहित कर देता है, जिसका पवित्र जल चिरकाल तक ही नहीं सृष्टि के अन्त तक काव्य-पिपासुओं की प्यास शान्त करता रहता है; यही एक ऐसी कसौटी है जिस पर हम किसी देश की सभ्यता, आचार-विचार गुण, गौरव आदि को कस सकते हैं। किन्तु ऐसे काव्य का सृजन करना भी कोई हँसी-खेल नहीं है। इस पर तो उन इनी गिनी कतिपय महान आत्माओं का ही अधिकार है जो ईश्वर प्रदत्त प्रतिभा को लेकर उत्पन्न होते हैं और गुरु अथवा संसाररूपी सुगुरु से शिक्षा ग्रहण कर अपने व्यक्तित्व, प्रतिभा और प्रभाव से उस समय के वातावरण को विलोड़ित कर या तो बवंडर उत्पन्न करते या सरस मन्दाकिनी को प्रवाहित कर देते हैं।

रस काव्य की आत्मा, भाषा उसका शरीर, भाव-विभाव उसके विभिन्न अंग एवं अंतर्प्रवृत्तियों का निवास-स्थल ही उसका प्राण प्रदेश है। व्यञ्जना उसका मुँह एवं अलंकार उसके भूषण हैं। ज्ञान एवं अनुभव उसके चिरकाल तक साथ देनेवाले सहचर मित्र एवं सहायक हैं। उसका सर्वांगीण एवं समुचित विकास ही उसकी सर्वोत्कृष्टता है। उसके प्राण कल्पना के अनन्त आकाश में चाहे विचरण कर आयें, किन्तु उन्हें रहना इसी लोक में होगा।

सभी कवियों में प्रतिभा भी एक समान नहीं होती। कुछ कवियों में तो सर्वतोमुखी प्रतिभा पाई जाती है और भाषा पर भी उनका अगाढ़ अधिकार रहता है जिनके द्वारा वे कविता-कामिनी ही को नहीं वरन लोक-भावना को भी हस्तगत किये रहते हैं। कुछ में विशेष

विषयों के वर्णनों की ही प्रतिभा एवं समता रहती है। कई ऐसे कवि रहते हैं, जिनमें प्रतिभा तो पूर्ण रहती है किन्तु वे अपनी वृत्तियों को केवल कुछ विषयों के वर्णन में तल्लीन कर देते हैं।

सूर की भाषा

सूर की भाषा उस समय की चलती व्रजभाषा है, जिसमें साहित्यिक भाषा का भी पूरा परिपाक हुआ है; यद्यपि कहीं-कहीं एक-दो अरबी-फारसी के शब्द भी मिलते हैं। जो ऐसा मालूम होता है, इतने प्रचलित हो गये थे कि सूर ने उनका हटाना उपयुक्त न समझा होगा। वे शब्द भी व्रज-भाषा की माधुरी से युक्त हैं। सूर ने चुने भी ऐसे ही शब्द हैं। समस्त सूर-साहित्य में निम्नलिखित दो पद ही ऐसे हैं, जो विशेष रूप से आकृष्ट करते हैं। वे ये हैं—

"सांचो सो लिख हार कहावै ।
काया ग्राम मसाहत करि कै जमा बाँधि ठहरावै ॥
मन यह तो करि कैद अपने में ज्ञान जहतिया लावै ।
मांडि-मांडि खरिहान क्रोध को पोता भजन भरावै ॥
वट्टा काट कसूर मर्म को फरद तले ले डारै ।
निश्चय एक पै राखै टरै न कबहूँ टारै ॥
करि अवारजा प्रेम प्रीति को असल तहाँ कतियावै ।
दूजो फरद दूरि करि है यत नेकत तामें आवै ॥
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल का हरिसों तहँ लै राखे ।
निर्भय रूपै लोभ छाँड़ि कै सोई वारिज राखे ॥
जमा-खर्च नीके करि राखै लेखा समुझि बतावै ।
सूर आप गुजरान-मुसाहिब लै जवाब पहुँचावै ॥"

दूसरा है—

"प्रभु जू मैं ऐसो अमल कमायो ।

ग्रंथ के समान पढ़ता जाय तो भी वे अरुचिकर प्रतीत नहीं होंगे कारण कि एक पद के पढ़ने से हमारी तृप्ति नही होती और यही इच्छा होती है कि इस रस का और-और आस्वादन करते जायँ । तृप्ति होने का अवसर आने ही नहीं पाता कि सूर दूसरा प्रसंग छेड़ देते हैं और हमारा हृदय दूसरी भावनाओं के आ जाने से अतृप्ति की आकांक्षा प्रकट करने लगता है।

विषय की वर्णन-शैली सूर की यह है कि वे पद की प्रथम पंक्ति में एक अनूठी बातें कह देते हैं और अन्य पक्तियों में उस भाव का विकास उत्तरोत्तर करते जाते हैं। यदि वह भाव अत्यंत ही अतुलनीय हुआ तो फिर सूर चाहे उसका विकास न करें, किन्तु उसमें शिथिलता न आये ऐसा प्रयत्न करते हैं। अंत की पंक्ति में कभी कभी किसी किसी पद में इसका अपवाद समझना चाहिये। वैसे देखा जाय तो सूर ने श्रीमद्भागवत की कथा बारह स्कंधों में कही है पर उनका उद्देश्य कथा कहने का नही था। सूरसागर उनके समय-समय पर रचे हुए पदों का क्रमबद्ध संग्रह है और संग्रह करते समय जो कथा छूट गई होगी, उस कथा को उन्होंने बाद में लिख दिया है। जो कुछ भी कथा कही है, उसका ढंग यही है कि किसी एक पद में वे उसे वर्णन करते हैं और फिर उसी विषय के और छन्द कहते जाते हैं। वर्णन करते समय उनका उद्देश्य कथा कहने का नहीं रहता। उनके मन में जो भाव उदय होते है, या जिनका वर्णन करना उन्हें अभीष्ट होता है वे ही विषय वे रखते हैं; अन्य बातों से उन्हें कोई प्रयोजन नही।

सूर का भाव-पक्ष बड़ा ही प्रबल है। सूर ने विनय सम्बन्धी पद भी विशेषतः प्रथम एवं द्वितीय स्कन्धों में कहे है और तुलसी के समान उनमें भी पर्याप्त मात्रा में दैन्य और भक्ति प्राप्त होती है पर शृंगार,

र का पक्ष

वात्सल्य पर उनका प्रगाढ अधिकार स्वीकार करना पडता है। तुलसी यदि चाहते तो ऐसी रचना करने में समर्थ हो सकते थे; किन्तु हमें तो जो रचनाएँ हमारे समक्ष हैं उन्हीं पर विचार करना है। इस दृष्टि से इस विषय पर तुलसी ने अधिक नहीं लिखा है, जो लिखा है वह भी सूर की कोटि के समकक्ष ही है। पर सूर वास्तव में सूर हैं। जो कुछ उन्होंने लिखा है वह इतना पूर्ण है कि उस विषय पर अन्य रचनाएं हल्की मालूम पडती है। इसे सभी विद्वान मानते हैं। सूर ने जीवन की सभी बातों पर प्रकाश नहीं डाला है, पर जितने पर डाला है उसका 'रिकार्ड' कोई भी, किसी भाषा का कवि भी उस विषय में प्रस्तुत नहीं कर सका। वात्सल्य और श्रृंगार के मंजुल भावों की जो व्यञ्जना सूर में मिलती है, वह अन्यत्र मिलना दुष्कर है। उनके दैन्य-सम्बन्धी पद भी अनोखे और अनुपम ही हैं। वियोग-वर्णन में सूर की वृत्तियां कितनी गहनता से तल्लीन हुई हैं, यह सहृदय विद्वान पुरुष ही जान सकता है। भ्रमरगीत की तुलना तो तत्सम्बन्धी किसी भी काव्य से नहीं हो सकती। नंददास के भ्रमर-गीत भी सुन्दर, भाव-पूर्ण और सरस हैं किन्तु उनका यह गुण केवल छोटी, थोड़ी रचना होने के कारण ही सूर से अधिक अच्छा जँचता है, किन्तु सूर ने जितने मनोभावों का चित्रण किया है, उनका अल्पांश भी उसमें प्राप्त नहीं होता है। 'रत्नाकर' जी का उद्धव-शतक भी उत्तम काव्य है। उसमें मंजुल व्यञ्जना है, पर सूर की गंभीर हृदयगत एवं मानसिक विवेचना उसमें कहां?

यद्यपि सूर की भक्ति सख्यभाव की कही जाती है; किन्तु उनके विनय-सम्बन्धी पद देखकर, जो दैन्य भाव से परिपूर्ण हैं, यह नहीं कहा जा सकता। स्थान स्थान पर उन्होंने दास्य भाव प्रकट किया है। कृष्ण की विभिन्न लीलाओं के वर्णनों को छोड़कर जहां कहीं भी प्रसंग आया

हैं, उन्हें सूर ने उपास्य देव कहकर ही प्रकट किया है। कहीं वे कहते हैं, 'प्रभुजी हौं पतितन को टीको।" कहीं कहते है, "हौं तो पतित-शिरोमणि माधो।" "हरि हौं पतितन पतितेश।" "नाथ सको तो मोंहि उबारो।" आदि-आदि। इन तथा इस प्रकार की अन्य पंक्तियों को लक्ष कर एवं विनय-पत्रिका से समता कर कौन कह सकता है कि सूर में भी तुलसी के समान दास्य भाव नहीं है। इस भाव की कोई ऐसी मनोवृत्ति नहीं है जिसे सूर ने छोड़ी हो।

श्रीकृष्ण की बाल्यावस्था से लेकर युवावस्था तक का सूर ने बड़ा ही मनोहर चित्र खींचा है। बालकृष्ण का पलने में पौढ़कर हाथ-पांव हिलाना, उसे देखकर इन्द्रादि का भयभीत होना। इससे यह भी प्रकट होता है कि तुलसी को जो यह दोप दिया जाता है कि वे कथा प्रवाह के मध्य में भी राम को अवतारी पुरुप कहकर विरसता ला देते हैं, अन्य कवियों को इस दोप से मुक्त बताते हैं, यह निरर्थक है। सूर-सा खरी-खरी कहने वाला और स्वाभाविक वर्णन करने वाला भी यह नहीं भूलता है कि पालने में पड़ा हुआ नन्हा सा-बालक भी अवतारी पुरुष है। यही बात प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कुछ न कुछ अंश में व्रज-बालाओं के, राधा के शृंगारिक प्रेम एवं वियोग-वर्णन तथा भ्रमरगीतों में भी देखने को मिलती है। जब कृष्ण कुछ बड़े होते हैं और देहलीज के बाहर जाने लगते हैं, उस समय का वर्णन भी उत्कृष्ट और स्वभाविक है। उनका गो चरण और ग्वाल-बाल-प्रीति भी सराहनीय है। आगे जाकर उनका व्रजबालाओं के प्रति जो व्यवहार है, प्रेम क्रीड़ा है वह सुन्दर, मधुर, सरस, अलौकिक, आनन्दमय, भावविभोर करने वाली एवं विदग्धता से भरी हुई अवश्य है, पर उसमें कई स्थलों पर विद्यापति के समान अत्यधिक अश्लीलता आ जाती है, जिसका प्रभाव परवर्त्ती कवियों पर अच्छा नहीं पड़ा। सूर ने तो इस थोड़े-से कलंक का परि-

हार व्रज-वनिताओं का वियोग वर्णन कर एवं भ्रमरगीत सदृश उपालंभ काव्य लिखकर कर दिया है, पर दूसरों में सूर की क्षमता न थी और इसीलिए उन्हें उलटी मुँह को खानी पड़ी। इन्हीं प्रसंगों के बीच सूर ने श्रीकृष्ण के रूप का भी बड़ा ही मनोहर वर्णन किया है। नख-शिख-वर्णन भी उनका बहुत अच्छा है। मुरली पर तो उनकी उक्तियाँ अनूठी ही हैं। सूर ने जिस प्रकार बालकृष्ण का वात्सल्य-पूर्ण और युवा कृष्ण का शृंगारिक प्रेम से ओत-प्रोत वर्णन किया है, उसे चरम सीमा पर उन्होंने वियोग-वर्णन और भ्रमरगीत में पहुँचा दिया। कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म ऐसा भाव नहीं जो सूर की दृष्टि से ओझल हो गया हो। सूर अपने विषय के पंडित हैं। जिन विषयों को चाहे वे मानव-जीवन के कुछ ही भागों के क्यों न हों—उन्होंने उठाया है उन्हें अन्तिम सीमा पर ला रखा है। उससे अच्छा, सुन्दर, अनूठा, सरस, स्वाभाविक और सच्चा वर्णन और कोई नहीं कर सका है। Imp

सूर का कला-पक्ष

कला-पक्ष में भी सूर का वही स्थान है जो भाव-पक्ष में है। पदावली उनकी कोमल और सरस है और विद्यापति की पदावली से अधिकांश रचना की समता की जा सकती है यद्यपि सानुनासिक, शब्दों का माधुर्य उतना नहीं है। समस्त रचना कूटों को छोड़कर प्रसाद-गुण-सम्पन्न है। वह लक्षणा और व्यंजनादि से पूर्ण परिवेष्टित और प्रांजलित है। उपमा और रूपक तो प्रत्येक पद में प्रचुरता से पाये जाते हैं। "काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल सदृश रूपक वाले पद सूर और तुलसी ही में प्राप्त हो सकते हैं। उत्प्रेक्षाएँ भी सूर ने अच्छी कही हैं। किंतु कल्पना अनोखी और ऊँची है, पर हर एक स्थान पर जहाँ सूर ने उत्प्रेक्षा वाचक मानो आदि शब्द प्रयुक्त किये हैं, उत्प्रेक्षालंकार मानना भ्रम-मूलक हो सकता है। अन्य अनेक अलंकारों का समावेश भी समुचित रूप से हुआ

है। स्वाभावोक्ति तो उनकी समस्त रचना की और व्यंग भ्रमरगीत की मुख्य विशेषताएँ हैं। वहाँ यह भी नहीं भूल जाना चाहिये कि उनका समस्त काव्य सँगीतमय है।

यद्यपि सूरसागर में सूर ने श्रीमद्भागवत की संपूर्ण कथा लिखने की चेष्टा की है; किन्तु यह तो सर्वमान्य है ही कि उनका उद्देश्य कथा कहने का नहीं था और न उनकी वृत्तियां ही कथा वर्णन में रँगी थीं। वे तो

सूर का चरित्र-चित्रण

सरस गायक थे। कृष्ण के सदय भक्त थे। सच्चे कवि थे। उन्हें कथा से क्या प्रयोजन ? कथा कहना तो अपने विचारों को, भावों को प्रकट करने का वे साधन समझते थे। इसी भावोद्रेक में उन्होंने कृष्ण, नन्द, माता यशोदा, उद्धव तथा व्रजबालाओं के चरित्र को सरस, भाव-पूर्ण और हृदयग्राही चित्रित किया है। सूरसागर कथाग्रन्थ होते हुए भी कथा नहीं है। फिर चरित्र चित्रण कैसा ? यह प्रश्न किया जा सकता है। पर समस्त सूरसागर सहृदयता के साथ, भावुकता के साथ पढ़ जाने के बाद, सूर को समझ जाने के बाद यह बात निर्विवाद हृदयंगम हो जाती है कि सूर के उपस्थित किये हुए चित्र मार्मिक हैं, एक प्रवाह को लिए हुए हैं। उनमें विशिष्ट व्यक्तियों को पूर्ण स्वाभाविक रूप में चित्रित किया गया है। सूरसागर महाकाव्य नहीं, स्फुट काव्य है। तुलसी के सदृश कथोपकथन के द्वारा खड़े किये हुए पात्रों की सरस जीवन-घटनाओं से ओत-प्रोत है। अतएव एक साहित्यिक के लिए सूर के जीवित चित्रों में पर्याप्त रूप से ऐसी सामग्री है कि जिससे वह आनन्द-विभोर हो अपना मनोरंजन कर सकता है। उनका एक-एक पात्र अपनी विशिष्टता लिए हुए है।

सूर के कृष्ण अवतार हैं। राम की भाँति उनका जन्म भी भू-भार उतारने के लिए हुआ है। उन्होंने पूतना, कंस आदि का वध भी किया

न्तु इसके जन्म हितकारी रूप पर सूर ने कुछ ध्यान नहीं दिया, क सूर के कृष्ण तो आनन्दातिरेक की मूर्ति हैं; प्रेम के प्रतीक हैं। पनी स्वाभाविक क्रीड़ा से माता-पिता को, यशोदा और नन्द को ही नहीं, प्रत्येक माता-पिता को अलौकिक आनन्द देने वाले हैं। सूर कृष्ण के जीवन में देखते यही हैं। वे यथार्थतः पुत्र तो वसुदेव-देवकी के हैं, पर माता-पिता कहलाने का गौरव, उन पर ममता प्रदर्शित करने का श्रेय मिलता है नन्द और यशोदा को। भारतीय साहित्य की यही तो विशेषता रही है कि यहां साम्य में वैषम्य एवं वैषम्य में साम्य की उद्‌भावना की जाती है। कृष्ण का विशाल चरित्र भी इसी की शिक्षा देता है। ज्यों ज्यों वे बड़े होते जाते हैं, वे पड़ोस के लोगों का भी चित्त चुराने लगते हैं। प्रत्येक नर-नारी उनकी रूप-माधुरी पर, उनकी अलौकिकता पर मुग्ध है। प्रेम की यह परिधि दिन-दिन बढ़ती जाती है। और कृष्ण उत्पाती और माखन चोर के रूप में दिखाई देते हैं। अवतार होते हुए भी नर-चरित्र कर रहे हैं। व्रज-वसुधा को आनन्द देते हुए दिखाई देते हैं। जबसे वे पैदा हुए हैं, तभी से यही हाल है। लोक-रंजनता के न देखने वाले विचार करें कि सूर ने उसका कितना ध्यान रखा है। एक क्षण भी कोई व्रजवासी आनंदाधिक्य से मुक्त नहीं होता है। फिर कृष्ण और बड़े होते हैं और शृंगार के आलम्बन के रूप में हमें दिखाई देते हैं। यह अवस्था भी बड़ी मादक है। सूर ने यद्यपि इस अवस्था का उद्‌भव कुछ शीघ्र कर दिया है, पर हमारी समझ में उनका ख्याल भी १३ से १८ वर्ष तक की अवस्था का ही रहा होगा। इस अवस्था में बड़ी अद्‌भुत बेचैनी का अनुभव होता है— पुरुष ही को नहीं स्त्रियों को भी। यह अवस्था प्रौढ़ा स्त्रियों पर भी मोहिनी डालने के लिए पर्याप्त है। भींगती मसों को देख उनका हृदय पंचशरों से विद्ध होने लगता है। उन्हें अपनी पूर्व स्थिति की मृदुमय स्मृति विह्वल बनाने लगती है। इस समय समवयस्का भोली बालाएं

तो स्वयं भी बेचैन रहतीं और उसी बेचैनी में सुखानुभव करती हैं; पर इस अवस्था से जन्य आनन्द उठा नहीं सकतीं। उत्पाती कृष्ण अब अपनी नई-नई सूझों से बालाओं को ही तंग—विशेष आनन्दमय अर्थ में—नहीं करता, प्रौढ़ाओं को भी तंग करता हुआ दिखाई देता है। माता यशोदा के समक्ष अब माखनचोर के उलाहने का दूसरा अर्थ हो गया है। पहिले की माखनचोरी में और इस माखनचोरी में आकाश पाताल का अन्तर है। यह गो-रस (गो—इन्द्रिय) चोरी है। अब इसी का बाजार गर्म है। इसी हेतु कहीं किसी के सूने गृह में पहुँचते, कहीं दान मांगते और कहीं चीर-हरण करते हैं। यदि सूर इतना ही कहकर चुप रह जाते तो अवश्य उनके सिर भी अश्लीलता का दोष मढ़ा जाता पर सूर वहां भी पहुँचे हैं, जहां कोमल मर्मस्थल हैं। सूर ने वियोगावस्था का भी बड़ा ही मार्मिक चित्र खींचा है। यहां कृष्ण को हम मथुरा में पाते हैं। विशेषतः जिस कार्य के लिए उनका अवतार हुआ उस की पूर्ति हो जाती है; पर सूर का उससे क्या? वे तो यहां से हटाकर कृष्ण को गोपियों के हृदय में 'टेढ़े गड़े हुए' दिखाते हैं। कृष्ण का रूप देखने के लिए अब हमें वहीं चलना चाहिए। वे उद्धव का ज्ञान-गर्व हटाने एव व्रजबालाओं को कुछ सांत्वना देने, उद्धव के द्वारा संदेश भेजते हैं। इसीके साथ हमें कृष्ण का वह मनोमुग्धकारी रूप भी दिखाई देता है जब वे अपनी 'धौरी-पीरी गायों' का, व्रजनागरियों का सकरुण ही स्मरण करते हैं।

व्रजबालाएँ

व्रज-वधुएँ भोली-भाली रसवती स्त्रियाँ हैं। कृष्ण-जन्म पर उन्हें बड़ा आनन्द होता है। वे कृष्ण की रूप-माधुरी पर मुग्ध हैं। बार-बार नन्द के यहाँ बालकृष्ण को देखने के लिये आती हैं। आनन्द-बधावे गाती हैं। उनके बड़े होने पर उत्पात करने पर बनावटी उलहने लाती हैं, ताकि श्रीकृष्ण को एक बार और देख सकें। श्रीकृष्ण के कुछ बड़े होने पर वे उनके

साथ शृंगारिक प्रेम में उन्मत्त-सी बनी रहती हैं। उन्हें देखे बिना, उनसे मिले बिना उन्हें कुछ अच्छा ही नहीं लगता, किन्तु उनका सच्चा प्रेम तो तब देखने को मिलता है जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं। अब उन्हें कुछ नहीं सुहाता। वनों-वनों में मारी-मारी फिरती हैं, कोई कुएँ पर जाती हैं तो वहीं बेसुध होकर बैठ रहती हैं और घर आने पर सास-ननद की डाँट फटकार सुनती हैं। नदी का नहाना, कुंजों में आनन्द के साथ क्रीडा करना सब अब बीते दिन की बातें हो गईं। खाना पीना दूभर हो गया। घर में उठना बैठना तक अच्छा नहीं लगता। कृष्ण का प्रत्येक क्रीडास्थल उन्हें काट खाने लगा। श्यामवर्ण अक्रूर के द्वारा कृष्ण का लिवा ले जाना उन्हें बुरा लगता ही था कि उसी वर्ण के उद्धव महाराज अपनी 'निर्गुण' की गाँठ, लेकर व्रजवनिताओं के हृदय से 'वनिज' करने के लिए आ पहुँचे और उन्हें निर्गुण परमात्मा का उपदेश देने लगे। पर इसका भोली-भाली व्रजवनिताओं पर क्या प्रभाव पड़ सकता था। उनका मन तो श्रीकृष्ण के साथ पहिले ही मथुरा चला गया था। कोई 'दस बीस मन, तो थे नहीं। कृष्ण फिर हृदय में टेढ़े होकर गढ़ गये,। सीधे गड़े होते तो निकल सकते थे। वे पहले से ही अपने दुःख की मारी मर रही थीं; उद्धव का आना तो और भी दुःखप्रद हो गया। मरे को मारे शाह मदार! पर जब कोई अत्यन्त दुःखी हो और दूसरा कोई अटपटी बात कर दे तो हँसी आ जाती है। बस यही दशा व्रज की स्त्रियों की है। बार-बार उद्धव से अपनी दशा कहने पर भी जब वे निर्गुण का उपदेश अपनी धुन में देते चले जाते हैं तब उन्हें हँसी आ जाती है। उन्हें 'काली करतूतों, का खूब अनुभव था। कृष्ण काले थे। अक्रूर काले थे और उद्धव महाराज भी कृष्णवर्ण ही थे। भला इनकी उन्हें क्यों प्रतीति होने लगी। अन्त तक उनका यही आग्रह रहता है कि हमें तो कृष्ण का सगुण रूप दिखाओ: बार-बार वे पपीहे से, कोयल

से कृष्ण को संदेशा भेजकर मथुरा से गोकुल आने की प्रार्थना करती हुई दिखाई देती हैं। कुब्जा के प्रति भी उनकी कुछ कुढ़न है। उन्हें बार-बार यही आता है कि कृष्ण कहाँ तो हमारे साथ इतने समय तक प्रेमालाप करते रहे और कहाँ अब कुब्जा को प्रेम पीयूष पिला रहे हैं। इस प्रेम का कुब्जा को भी बड़ा गर्व था जैसा कि उसके संदेशों से, जो उसने उद्धव के द्वारा गोपियों को भेजा था, प्रकट होता है।

नन्द का चरित्र बहुत कुछ यशोदा के चरित्र में सन्निहित-सा है। सूर ने उनके चरित्र की विशद व्याख्या नहीं की है। जननी यशोदा का चरित्र पूर्ण मातृत्व लिये हुए है। वे जानती हैं कि कृष्ण मेरा उदरजात

माता यशोदा और नन्द

पुत्र नहीं हैं फिर भी उनपर उनका अटूट, अविरल प्रेम है। वात्सल्य है यशोदा के लिए कृष्ण अवतारी नहीं, उनका छौना ही है। माता की ममता की तो वे प्रतीक हैं। जिस समय से कृष्ण उनकी अग की शोभा बढ़ाने लगे तभी से वे उनके अंग हो गये। पैदा होते ही भाँति-भाँति के मंगलाचारों की सृष्टि होने लगी। कनक-जटित पालने के लिए चतुर सुतार को आज्ञा दे दी गई और उसे यह भली भाँति समझा दिया गया कि अमुक अमुक प्रमाण का पालना तैयार करना आवश्यक है। कृष्ण कन्हैया पूरे दो महीने के न हो पाये कि उनके हृदय में यह अभिलाषा हिलोर मारने लगी कि कब मेरा लाल बैठेगा? 'घुंटरुअन' चलेगा। घुंटरुअन चलने लगा तो यह आकांक्षा होने लगी कि कब 'पैजनिएँ पहिनकर चलेगा'? उनमें बराबर चलने की सामर्थ्य आही न पाई थी कि आज्ञा हुई कि, 'पैजनियां गढ़ लाहु रे सुनार। साथ ही अन्न-प्राशन आदि संस्कार भी यशोदा बड़े उत्साह से मनाया करती हैं। कुछ खेलने लायक हुए तो पड़ोस के ग्वाल-बालों को उनके साथ खेलने को बुलाया जाने लगा। कुछ समय पश्चात तो द्वार के बाहर भी वे जाने लगे और फिर वे अनेक

कौतुक मा को दिखाने लगे। मा के पास बार-बार उलाहना आना शुरु हो गया। माता यशोदा कभी उन्हें डांटती और कभी खीझकर पीटती थी। एक दिन तो उन्हें ऊखल से कस दिया, जिससे यमलार्जुन का उद्धार हुआ। उनके हठ करने पर एक दिन उन्हें कृष्ण को गो-चारण की आज्ञा देनी पडी। बड़े तड़के से वहाँ भेजने की तैयारी होने लगी। कृष्ण जंगल में चले गये। दिन भर माता बड़ी व्याकुल रहीं। कुछ और बड़े होने पर तरह-तरह के ब्रज युवतियों के उलाहने भी आने लगे। इस पर मा अपने कन्हैया को छोटा कह शिकायत करनेवालियों को बुरी भली सुना देती। अक्रूर के आने पर हृदय पर पत्थर रख अपने कुँवर कन्हैया को सौंप देतीं हैं, इसी आशा से कि शीघ्र उनका लाड़ला वापिस आयेगा। पर कृष्ण राज काज की झंझटों में इतने फँसे हैं कि वापिस नहीं लौट सके। इस पर बार बार उन्हें अफसोस होता है और यह खीज उतरती है नंद पर। नंद को वे बार-बार जाने के लिए प्रेरित करती हैं; पर नंद मथुरा से वापिस बिना कृष्ण के लौट आते हैं। यहीं से तो उनकी समस्त आशाओं पर पानी पड़ जाता है और दुःख बहुत ही बढ़ जाता है। अन्त में जब उद्धव के द्वारा वे देवकी के पास सदेश भेजती है, तब तो मातृ-ममत्व छलक ही पडता है। 'भोर हीं भुखात हुई है, कंद मूल खात है।, के समान वे कहती हैं कि 'मैं तो धाय तुम्हार सुत की,। जो मर्म-व्यथा शब्दों की राह उतर पडती है, उसे मा का हृदय ही जान सकता है।

(श्रद्धेय पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने एक शंका उठाई है कि गोकुल और मथुरा के इतने निकट होने पर यशोदा तथा अन्य ब्रज की स्त्रियों का वियोग दुःख अस्वाभाविक है। गाँव से ५-६ मील दूरी पर आजकल भी जब कोई ग्राम्य-बालक किसी बड़े शहर को जाता है, तो माताओं का हृदय शंकित, भयभीत और दुःखी रहता है। फिर आज से ३००

वर्ष पूर्व जब रेलादि के साधन नहीं थे, उनको कितनी चिन्ता रहती होगी? जबकि मथुरा शहर हीं नहीं एक बड़ी राजधानी थी। फिर उन्हें यह ज्ञात ही था कि कंस श्रीकृष्ण-वध के लिए अनेक उपाय रच चुका है। कंस वध के पश्चात अवश्य उनका वियोग-जन्य दुःख उतना नहीं रह जाता है।)

इस समय उनमें घोर निराशा के भाव का उदय होता है। कृष्ण अब उनका वह लाड़ला ग्रामीण कुमार नहीं है जो ब्रज की गलियों में उत्पात मचाया करता था। आज तो राजा ही नहीं; राजनैतिक उथल पुथल: क्रांति-जन्य अवस्था को जमानेवाला शासक भी है। कंस-वध के पश्चात् श्रीकृष्ण से उनके मिलने में यही बड़ी बाधा थी। नन्दजी को उन्होंने कुशल-समाचार प्राप्त करने भेजा भी था। किन्तु परिस्थितियाँ इतनी विकट थीं कि कृष्ण माता यशोदाजी से मिलने का उत्सुकता दिखाते हुए भी एक क्षण के लिए मथुरा छोड़ने में असमर्थ थे। माता यशोदा की निराशा इसलिए भी थी कि अब कृष्ण राजपुत्र था। कृष्ण से मिलने में उन्हें संकोच होना केवल सांसारिक ही नहीं, एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है, यद्यपि दोनों एक दूसरे को अत्यन्त और हृदय से चाहते थे। फिर स्थानांतर और समयान्तर भी सांसारिक दृष्टि से प्रेम में व्याघात उत्पन्न कर सकता है। ऐसी आकांक्षा क्षीणरूप से अवश्य यशोदाजी के हृदय में रही होगी, वह पुनर्मिलन तक तो अवश्य रही ही होगी।

उद्धव कृष्ण के मित्र थे। गोपियों को सान्त्वना देने के लिए श्रीकृष्ण ने इन्हें गोकुल भेजा था। एक कारण और था। इन्हें अपने निर्गुण परमात्मा विषयक ज्ञान का गर्व हो गया था। इस हेतु भी ये

उद्धव

ब्रज में पठाये गये थे, ताकि गोपियों की अनन्य भक्ति और प्रेम देखकर उनसे कुछ शिक्षा ग्रहण करें। यहाँ पहुँचकर इन्होंने अपना ज्ञान-गर्व प्रकट करना प्रारंभ कर दिया;

किंतु वह चिकने घड़े पर पानी के समान भक्ति के प्रवाह में बह गया। अंत में गोपियों का एकरस प्रेम और अविचलित प्रभाव इन पर पड़ा। इन्होंने कृष्ण से उनकी भक्ति की प्रार्थना की।

सूर को पूर्णरूपेण समझने के लिए आवश्यक है कि उस प्रभाव को एक निगाह देखा जाय जो उनके पूर्ववर्ती कवियों का उन पर पड़ा है, तथा परवर्ती कवियों पर जो प्रभाव वे छोड़ गये हैं।

विद्यापति एक सच्चे भावुक, सहृदय शृंगारिक कवि हुए हैं। उनका भाषा-माधुर्य, संस्कृत की पदावली का अनुकरण अनुपमेय है। भावों की सरस लहरी जो विद्यापति ने बहाई है, उससे मिथिला के रग-

सूर और विद्यापति

रग मे जीवन-स्रोत प्रवाहित हो रहा है। उनकी भाषा और भावों के कारण ही बंग विद्वान विद्यापति को अपना आदि कवि मानते रहे हैं। विद्यापति की विशेषता यही है कि उन्होंने सदा अनवरत बहनेवाली शृंगार-रस की धारा बहाई है। संस्कृत-साहित्य में जैसे जयदेव शृंगार-रस-पूर्ण रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, उसी तरह हिन्दी मे कोमल कांत-पदावली लाने का श्रेय एक विद्यापति को है। विद्यापति ने पदों में अपने भावों का स्रोत बहाया है। उनके समस्त पद गेय और संगीत के नियमों के अनुकूल हैं। वे राधाकृष्ण के रूप मे, निस्संकोच होकर, यहाँ तक कि अश्लीलता का डर त्याग कर भी शृंगार-रस से ओत-प्रोत हैं। राधाकृष्ण के वर्णन में 'अभिनव जयदेव' (विद्यापति) ने राधा के नन्हें-नन्हें, 'बेर से कुचों' का वर्णन तो क्या 'अभिसार' तक का वर्णन किया है, पर उनकी विशेषता यही है कि उन्होंने सरस माधुर्य-पूर्ण काकली भाषा में शृंगारिक भावों की बड़ी विमल धारा प्रवाहित की है। शृंगार-रस-संबंधी कोई घटना, कोई भाव उनसे अछूता नहीं रहा है। अब सूर को लिया जाय। सूर में भी वही सीधा सच्चा ...

का ढंग है। जो माधुरी ब्रजभाषा के द्वारा पाई जाती है वह भी स्वाभाविक है। उसी प्रकार उनके पद गेय, राधाकृष्ण की भक्ति से समन्वित और कहीं-कहीं अश्लीलता को प्रश्रय देते हुए पाये जाते हैं। वास्तव में देखा जाय तो विद्यापति का सूर पर पूरा-पूरा प्रभाव लक्षित होता है। भाव-साम्य को तो जाने दीजिये, जैसे-जैसे विद्यापति को समझते जायँगे, उनके काव्य का अध्ययन करते जायँगे, सूर की तल्लीनता, भाषा, भाव, आदि में उन्हीं का प्रतिबिंब दीख पड़ेगा। इष्टदेव तो दोनों के एक हैं ही अन्तर केवल इतना है कि जहाँ विद्यापति ने शृंगार के अवलंबन के हेतु उन्हें चुना है, वहां सूर ने भक्ति की अनन्यता में उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित किया है। शैली की विशेषता ही यह है कि उसका एक ही पद कवि के समस्त भावों का केन्द्र रहता है। यही बात समान रूप से दोनों में पाई जाती है। विद्यापति यथार्थ चित्रण के नाम पर जो चाहे कृष्ण और राधा को लक्ष्य कर कह डालते हैं। वही बात हम सूर में भी पाते हैं। सूर यद्यपि भक्त हैं पर उसकी चरम सीमा पर, उसके आवेश में वे कृष्ण को खरी-खोटी सुनाने में नहीं चूकते, जैसे एक लँगोटिया मित्र एक मित्र को। कबीर में धार्मिक अल्हड़पन था। इन दोनों में साहित्यिक। विद्यापति और सूर में यही तो खूबी है कि हृदय के भावों के आवेग में जो धारा फूटेगी, उसके वेग को वे रोकेंगे नहीं, मोड़ेंगे नहीं। सूर पर विद्यापति का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। यह मैं केवल इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि सूर विद्यापति के बाद के कवि हैं, पर मुझे तो सूर में विद्यापति का ही प्रतिबिम्ब नज़र आता है। इसका आशय यह नहीं कि सूर ने विद्यापति का भावापहरण किया है। भाव-साम्य है। सूर में स्वाभाविक अनुकरण है, पर रस दोनों में हृदय-तल से ही प्रवाहित हुआ है, यह तो मानना ही होगा।

कबीर का भी किसी न किसी अंश में सूर पर प्रभाव लक्षित होता

है, यह भी इसलिए नहीं कि कबीर पूर्ववर्ती कवि हैं, किन्तु इसलिए कि कबीर-सा सत्यकथन सूर में भी पाया जाता है। पूर्ववर्ती कवियों का

सूर और कबीर

परवर्ती कवियों पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है और पहिले के काव्यों से लाभ न उठाना एक बड़ी भारी भूल है। सूर ने दृष्टिकूटों की रचना कदाचित कबीर की उलटबांसियों के अनुकरण पर की है। अन्तर केवल यह है कि जहां कबीर गहनतम आध्यात्मिक भावों को प्रदर्शित करने के लिए गूढ़ और उल्टे कथन करते हैं, वहां सूर गहन शृंगारिक भावों और साहित्यिक, धार्मिक, शाब्दिक ज्ञान प्रदर्शित करने के लिए। जनता इस प्रकार के कथनों को समझने मे यद्यपि असमर्थ रहती है। पर ऐसे कथनों का उस पर खूब प्रभाव पड़ता है। ऐसे कथनकार को वह बड़ा विद्वान या साधु-महात्मा समझ बैठती है। साधारण लोग जनता की इस प्रवृति से बड़ा लाभ उठाते हैं; यद्यपि कबीर और सूर का यह उद्देश्य नहीं था। कबीर उल्टे कथन अंतर्प्रवृत्ति की पुकार पर करते थे और सूर ने कुछ अंशों में, पांडित्य-प्रदर्शन एवं साहित्यिक ज्ञान के परिचय के हेतु ऐसा किया है। कभी-कभी अनुद्देश्य भी कोई अनुकरण चला करता है और कभी गुप्त, गहन, अप्रकट-योग्य विचारों को प्रकट करने के लिए। सूर ने कदाचित् इसी कारण अनुकरण किया है। अन्य बातों में केवल कबीर का खरापन, सत्य-कथन, अपनी बात को साहस के साथ कहना ही सूर ने ग्रहण किया। पर यह ध्यान में रखना चाहिए कि सूर ने कबीर की भाषा को विकास की उच्चतम श्रेणी पर पहुँचा दिया। कबीर के भावों को भक्ति की ओर, निर्गुण भावना को सगुण भावना की ओर, और आध्यात्मिक उल्टे कथनों को साहित्यिक आवरणों की ओर झुका दिया था। सूरने कबीर से जो ग्रहण किया, उसे ऐसा आत्मसात् किया कि उनकी रचनाओं में उसे पाना दुष्कर है।

का ढंग है। जो माधुरी ब्रजभाषा के द्वारा पा॰
स्वाभाविक है। इसी प्रकार उनके पद गेय, राधा॰
समन्वित और कहीं-कही अश्लीलता को प्रश्रय देते ह
वास्तव में देखा जाय तो विद्यापति का सूर पर पूरा-पू॰
होता है। भाव-साम्य को तो जाने दीजिये, जैसे-ज॰
समझते जायँगे, उनके काव्य का अध्ययन करते जायँगे,
नता, भाषा, भाव, आदि मे उन्ही का प्रतिबिंब दीख
तो दोनों के एक हैं ही अन्तर केवल इतना है कि जहं
शृंगार के अवलंबन के हेतु उन्हें चुना है, वहां सूर ने भक्ति
में उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित किया है। शैली की विशेष॰
कि उसका एक ही पद कवि के समग्र भावों का केन्द्र रह
बात समान रूप से दोनों में पाई जाती है। विद्यापति यथा॰
नाम पर जो चाहे कृष्ण और राधा को लक्ष्य कर कह डा॰
बात हम सूर मे भी पाते है। सूर यद्यपि भक्त हैं पर उसकी
पर, उनके आवेश में वे कृष्ण को खरी-खोटी सुनाने में नहीं
एक लँगोटिया मित्र एक मित्र को। कबीर में धार्मिक अल्हड़
इन दोनों में साहित्यिक। विद्यापति और सूर मे यही तो॰
हृदय के भावों के आवेग में जो धारा फूटेगी, उसके वेग को
नहीं, मोड़ेंगे नही। सूर पर विद्यापति का बड़ा गहरा प्रभाव
यह मैं केवल इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि सूर विद्यापति के ब
हैं, पर मुझे तो सूर में विद्यापति का ही प्रतिबिम्ब नजर
इसका आशय यह नहीं कि सूर ने विद्यापति का भावापहरण
भाव-साम्य है। सूर में स्वाभाविक अनुकरण है, पर रस दोनों मे
तल मे ही प्रवाहित हुआ है, यह तो मानना ही होगा।

कबीर का भी किसी न किसी अंग मे सूर पर प्रभाव लक्षित

तुम किसी भी विषय का कैसा भी वर्णन करो, मुझमें इतनी क्षमता है कि मैं उस पर भी उतने ही अच्छे प्रकार से लिख सकता हूँ, जितने अच्छे प्रकार से तुम। यह तो मानना पड़ेगा कि तुलसी सूर से बहुलांश में प्रभावित हुए हैं। सूर के विनय और भक्ति-संबंधी पदों का आभास हमें उनकी 'विनय-पत्रिका' में मिलता है। सूर का वात्सल्य गीतावली और कवितावली के प्रारम्भ में। शायद सूर की प्रतिस्पर्द्धा के कारण ही तुलसी ब्रजभाषा में भी अपनी कुछ रचना अमर कर सके। 'विनय-पत्रिका' के तो कई पद सूर के पदों से मिलते हैं। वे गेय भी हैं और राग-रागिनियों में लिखे गये हैं। पर तुलसी ने संस्कृत-पदावली को अपनाया है। सूर ने स्वाभविक रूप से अपनी धारा को उद्गमित होने दिया है। सूर ने राम का वर्णन किया है, इसलिए कि वे अवतारों का का वर्णन करते हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि सूर का तुलसी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यद्यपि तुलसी की प्रतिभा की चमक में वह इतना क्षीण और धुंधला दिखाई देता है कि लक्षित ही नहीं हो पाता। पर तुलसी सूर से प्रभावित अवश्य हुए हैं, यह निश्चित-सा है।

सूर के पश्चात का शायद ही कोई ऐसा कवि होगा जिसने सूर से किसी न किसी रूप में ऋण न लिया हो। किसी ने भाव, किसी ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार, किसी ने भाषा, किसी ने वर्णन और किसी ने शैली। कुछ अन्य प्रमुख कवियों को लेकर देखा जाय तो वे भी भाषा-भाव आदि के लिए महा-कवि सूर के ही ऋणी दीख पड़ेंगे।

सूर और हिन्दी-साहित्य के भक्त तथा अन्य कवि

मीरा के कई पदों में सूर के पदों के ही भावों की पुनरावृत्ति दिखाई देती है। मीरा में जहां भक्ति के आवेश का उछाल है, वहीं किसी न किसी रूप में सूर के भावों का दिग्दर्शन है, पर मीरा ने कुछ-

सूर और तुलसी में समता और विषमता दोनों मिलती हैं। संस्कृत के आद्य कवि वाल्मीकि के समान दोनों हिंदी के आद्य महाकवि हैं, जिनकी प्रतिभा ने हिंदी-साहित्य को अलंकृत ही नहीं किया, उसमें

सूर और तुलसी

वृद्धि ही नहीं की, प्रत्युत उसे अमर बनाया है। केवल इन दो महाकवियों की रचना से ही हिंदी-साहित्य अमर होने की क्षमता रखता है। सूर और तुलसी दोनों सच्चे भक्त थे। एक कृष्ण के तो दूसरे राम के। दोनों प्रतिभाशाली, दोनों विद्वान् और इष्टदेव के रँग में रंगे हुए। ऐसे रंग में कि संसार ही उन्हें उनमय दिखाई दिया। वे जिये तो उनके लिए और मरे तो उनके लिए। उनके धर्म-कर्म, सिद्धान्त, ज्ञान-गौरव सब कृष्ण-राम ही थे। दोनों समकालीन भी थे। सूर भक्त और कवि हैं, पर तुलसी भक्त और कवि नहीं। भक्त और कवि से महत लोक दृष्टि के संपोपक व्यक्ति। सूर अपने इष्टदेव के सखापन और कवित्व को लेकर उतरे, तुलसी राम के दासत्व और सर्वतोमुखी प्रतिभा को लेकर। सूर वर्णन करने की एवं संसार के मनोरंजक, काव्योपयोगी विषयों को पैनी दृष्टि से देखने की शक्ति से समन्वित हैं तो तुलसी में लोकदृष्टि और प्रकांड पाण्डित्य है। सूर ने जिस विषय का वर्णन किया उसे एक गेय पद के दायरे में पूर्णता से भर दिया। तुलसी ने जिस पर लेखनी चलाई उसमें कोई अंग अछूता नहीं छोड़ा। सूर ने कुछ पेटेंट विषय वर्णन के लिए लिये हैं और उन्हें उनकी चरम सीमा पर पहुँचा अपनी कलम का कमाल दिखाया है; पर तुलसी से कोई विषय ऐसा नहीं छूटा है, कोई अंग ऐसा शेष नहीं है, जिस पर उनकी निज की कोई छाप न हो। ऐसा मालूम पड़ता है कि तुलसी किसी स्पर्द्धा या प्रतियोगिता में भाग ले रहे हैं। सूर यह प्रकट करना चाहते थे कि जिस विषय पर मैं लिख रहा हूँ उस पर कोई लिख ही नहीं सकता; और तुलसी यह कि

तुम किसी भी विषय का कैसा भी वर्णन करो, मुझमें इतनी क्षमता है कि मैं उस पर भी उतने ही अच्छे प्रकार से लिख सकता हूँ, जितने अच्छे प्रकार से तुम। यह तो मानना पड़ेगा कि तुलसी सूर से बहुलांश में प्रभावित हुए हैं। सूर के विनय और भक्ति-संबंधी पदों का आभास हमें उनकी 'विनय-पत्रिका' में मिलता है। सूर का वात्सल्य गीतावली और कवितावली के प्रारम्भ में। शायद सूर की प्रतिस्पर्द्धा के कारण ही तुलसी ब्रजभाषा में भी अपनी कुछ रचना अमर कर सके। 'विनय-पत्रिका' के तो कई पद सूर के पदों से मिलते हैं। वे गेय भी हैं और राग-रागिनियों में लिखे गये हैं। पर तुलसी ने संस्कृत-पदावली को अपनाया है। सूर ने स्वाभविक रूप से अपनी धारा को उद्गमित होने दिया है। सूर ने राम का वर्णन किया है, इसलिए कि वे अवतारों का का वर्णन करते हैं। इससे भी ज्ञात होता है कि सूर का तुलसी पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है, यद्यपि तुलसी की प्रतिभा की चमक में वह इतना क्षीण और धुंधला दिखाई देता है कि लक्षित ही नहीं हो पाता। पर तुलसी सूर से प्रभावित अवश्य हुए हैं, यह निश्चित-सा है।

सूर के पश्चात का शायद ही कोई ऐसा कवि होगा जिसने सूर से किसी न किसी रूप में ऋण न लिया हो। किसी ने भाव, किसी ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार, किसी ने भाषा, किसी ने वर्णन और किसी ने शैली। कुछ अन्य प्रमुख कवियों को लेकर देखा जाय तो वे भी भाषा-भाव आदि के लिए महाकवि सूर के ही ऋणी दीख पड़ेंगे।

सूर और हिन्दी-साहित्य के भक्त तथा अन्य कवि

मीरा के कई पदों में सूर के पदों के ही भावों की पुनरावृत्ति दिखाई देती है। मीरा में जहां भक्ति के आवेश का उच्छ्वास है, वहीं किसी न किसी रूप में सूर के भावों का दिग्दर्शन है, पर मीरा ने कुश-

लना से उसे पति-भक्ति की ओर मोड़ दिया है।

मतिराम, रसखान आदि कवि उन कवि-श्रेष्ठों में से आते हैं, जिन्होंने सूर की भाषा और भाव ग्रहण कर, मुक्तक छन्दों में सफलता पूर्वक उनके सौंदर्य की रक्षा की है। मतिराम ने तो भावों को ग्रहण कर बहुत कुछ दूसरा रूप दे डाला है, पर कौशल और प्रतिभा के साथ-रसखान तो रस की खानि सूर के ही सरस पदों की माधुरी को उनसे निचोड़ और सवैयों में उसे सजा गये हैं। इससे यह अवश्य ज्ञात होता है कि इन्होंने सूर का अध्ययन किया था और चालू भाषा और छन्दों में उनके भावों को ढाला था। साधारण जनता सूर की कलात्मक प्रवृत्ति और विस्तृत साहित्य-सागर में पैठने की असमर्थता के कारण उन्हें तो पहचान न सकी, पर जिन कवियों ने सूर से भावों को ग्रहण कर दूसरे रूप में जनता की मनोवृत्ति के अनुरूप रखा, उन पर जनता मुग्ध हो गई। रसखानि इसी श्रेणी के कवियों में आते हैं। इन्होंने बड़ी खूबी से सूर के भावों को अपना कर जन-सम्मान प्राप्त किया है। इधर अयोध्यासिंह उपाध्याय और रत्नाकरजी ने भी उन्हीं विषयों पर लेखनी चलाई है और बहुत कुछ सफल हुए हैं। उपाध्यायजी का प्रिय-प्रवास वास्तव में काव्य-माधुर्य से ओत-प्रोत है और उसमें विरह वर्णन बड़ी विशदता से किया गया है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह खड़ी बोली में नये रूप में रखा है, पर उपाध्यायजी ने इसमें अपनी प्रतिभा का पूरा सदुपयोग किया है। 'रत्नाकरजी' ने भी उसी ढ़ग पर 'उद्धव-शतक' की रचना की है। इसमें व्यंग्य, चोज और ओज, उक्तियाँ और मनोरंजक कथोपकथन बहुत अच्छे हैं, पर उसमें न तो सूर का माधुर्य ही है और न सूर की स्वाभाविकता। प्रवाह और व्यंग्य अवश्य है। नन्ददास और सूर में भी कुछ अंशों में समता हो सकती है। अष्टछाप के कवियों में सूर के पश्चात् इन्हीं की गणना होती थी।

…दृष्टि से तो दोनों कवि एक हैं ही, पर साहित्य-रचना की …भी दोनों में बहुत साम्य है। रास-पंचाध्यायी में नन्ददास के …जैसे हैं वैसे ही सूरसागर में सूर के। सूर के भ्रमरगीतों और नन्द-दास के भ्रमरगीत में भी बड़ा साम्य है। नंददास ने कुछ पंक्तियाँ सूर …की विकल्प में लिखी हैं, पर जो हैं वे उत्तम हैं, सरस धार्मिक और …हैं। उनमें यद्यपि सूर जैसा विस्तार, विभिन्न भावों का सन्नि-…वेश नहीं है, पर उत्कृष्टता तो उनमें है ही।

सूर और आंग्ल कवि

वात्सल्य-रस का जैसा मनोमुग्धकारी वर्णन सूर ने किया है वह हिन्दी, संस्कृत या अन्य भाषाओं में भी कठिनता से ही प्राप्त होता है। कालिदास का वात्सल्य-रस पर केवल एक छंद मिलता है, वह भी सूर के किसी उत्कृष्ट पद की समता नहीं कर सकता। अंग्रेजी साहित्य में तो इसका अभाव-सा ही है। कहीं कहीं अवश्य इस विषय पर कोई काव्य दृष्टिगोचर हो जाता है, पर जितनी विशद व्याख्या सूर में मिलती है वह अन्यत्र दुर्लभ है। होमर ने यद्यपि एक स्थान पर 'ओडेसी' नामक काव्य में थोड़ा वर्णन अवश्य किया है। वात्सल्य-रस में तो संसार का कोई भी कवि सूर की जरा भी समता नहीं कर सकता। लांगफेलो शिशु का गुणगान अवश्य करता है। लांगफेलो की वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"You are better than all ballads,
That ever were sung or said!
For ye are the living poems,
And all the rest are deads."

शृंगार-रस पर अवश्य प्रचुरता से आंग्ल-साहित्य मिलता है, पर ब्रजभाषा की भक्ति, अनन्यता और भारतीय दृष्टिकोण से देखने पर आंग्ल-साहित्य भी फीका लगता है। प्रकृति-वर्णन में अवश्य वह सूर की समता कर सकता है, पर उसकी और सूर की वर्णन-शैली में महान

अंतर है। सूर जिस प्रकार प्रकृति को देखते है, आंग्ल कवि नहीं। और आंग्ल कवि जिस प्रकार देखते हैं उस प्रकार सूर आज से ३५० वर्ष पूर्व नहीं देख सकते थे। कीट्स, शैली, बायरन, वर्डसवर्थ आदि की समता कुछ अंशों में सूर से की जा सकती है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ही विश्व कवि श्रेष्ठों में ऐसे लेखक दिखाई देते है, जिन्होंने बड़ी ही सरलता, सरसता एवं स्वाभाविकता से वात्सल्य-रस को अपनाया है और उसे आधुनिकतम रूप दिया है। इस विश्व-वंद्य कवि ने वात्सल्य को अपनाकर भारतीय साहित्य एवं संस्कृति की समुचित रूप से रक्षा की है। सूर-सा सौंदर्य, निखरापन, वर्णन की सजीवता एव स्वाभाविकता एक इन्हीं महाकवि में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विश्व कवि का वर्णन बाह्य (Matter) का है। बालहृदयोचित सारल्य पूर्ण है; किन्तु बालोचित प्रत्येक कथन उतना स्वाभाविक नहीं है। कहीं-कहीं तो वे अस्वाभाविक भी हो गये है। सूर का बालक जहाँ शिशु ही रहता है, वहाँ रविबाबू का शिशु बालक दिखाई देता है। कम वय के बालक से विभिन्न कल्पनात्मक कथन कभी-कभी उतने हृदयस्पर्शी नहीं होते। रविबाबू का बालक अपनी अवस्था से प्रौढ़ और विद्वान-सा दिखाई देता है, यद्यपि कभी-कभी यह अवश्य देखने में आता है कि बालकों के मस्तिष्क में भी अनोखी सूझें, कथन और कल्पनाएँ लहराया करती हैं। उत्तम पुरुष में लिखने के कारण ही कदाचित कतिपय अस्वाभाविक कल्पनाएँ उनकी कला में रंग आई हैं। फिर सूर-सा सर्वांग-पूर्ण वात्सल्य-निदर्शन भी रविबाबू में नहीं है; किंतु वे मनोमुग्धकारी और विदग्ध होती हैं। ऐसा ही कुछ कल्पनात्मक रूप रविबाबू में मिलता है।

वह भादों की अँधेरी काली रात थी, जिसमें श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। चारों ओर भय का साम्राज्य छाया था। बड़ी कठिनता से गर्भ

छिपाया गया। वसुदेव और देवकी बंदीगृह में परतंत्र थे। ऐसी अवस्था में, ऐसी भीषण परिस्थिति में, कंस का नाश करने के लिए कृष्ण का जन्म हुआ था। जब वह दिव्य आत्मा उदर से बाहर निकली, माता-पिता ने उसे

सूर के वात्सल्य रस का परिचय

स्तिमित हो देखा, छाती से लगाया और हृदय पर पत्थर रखकर गोकुल में ले जाकर नंद और यशोदा की गोद में पौढ़ा आये। इसके पश्चात् सूर की छटा, उनकी लेखनी का कमाल, उनकी प्रतिभा की कांति, उन के कवि-हृदय की मार्मिकता देखते ही बनती है।

गांव भर में विदित हो गया कि यशोदा को पुत्र प्राप्ति हुई है। नंद के घर विविध बाजे बज रहे हैं। उनकी मंगल-ध्वनि शहर में छाई हुई है। घर बाहर बधाई के गीत गाये जा रहे हैं। याचक-गणों के झुण्ड के झुण्ड आज नंद के द्वार पर आकर इकट्ठे हो गये हैं। जो याचक जो वस्तु, धन, वस्त्रादि चाहता है उसे उससे अधिक मिल जाता है। सब हर्षित हो होकर वापिस लौटते हैं। गांव भर की स्त्रियों में अप्रतिम उत्साह छाया हुआ है। जहां तहां केवल आनन्द और उत्साह के अतिरिक्त कुछ दृष्टि ही नहीं पड़ता। बालकृष्ण के दर्शन की लालसा से ग्राम की स्त्रियां नंद के घर आ रही हैं और उनकी मनोहर दिव्य छवि को देख-कर अपना जन्म सफल कर रही हैं। इस समय किसी को, बालकृष्ण के दर्शन के अतिरिक्त, अन्य कोई अभिलाषा नहीं है। कई स्त्री-पुरुष तो याचक बनकर ही नंद के द्वार पर इसलिये आ बैठे हैं कि वे दर्शन पायें। नंद उनसे पूछते हैं—भाई तुम्हें क्या चाहिये? धन-सम्पत्ति मणि-मुक्ता क्या चाहिये? वे उत्तर देते हैं—महाराज, हमें कृष्ण के दर्शन के अति-रिक्त और कोई कामना नहीं है। सूर की सरस रचना यहां बड़ी हृदय-ग्राही हो गई है। (राम और केवट का गंगा-पार होने से प्रथम के वार्तालाप का स्मरण कराती है। यद्यपि सूर ने उतरना लंबा चित्र नहीं

खींचा है। कुछ दो-चार तूलिकाएँ ही चलाई हैं तथापि वह भी कम चित्ताकर्षक नहीं हैं। जिन स्त्रियों ने काम आरम्भ नहीं किया था वे तो तो भागी ही गई, पर जो काम कर रही थीं, वे भी जल्दी गृह-कार्य समाप्त कर भागीं। कोई स्त्री खेत में जाते-जाते रुक गई। कोई दूध-दही बेचने गलियों में फिर रही थीं वहीं से लौटकर नंद के द्वारे आ पहुँची। सब स्त्री पुरुष आनन्द-विभोर हो नाचने-गाते नंद के द्वार पर पहुँच रहे हैं। बस नगर भर में एक धुन है, एक बात है, एक काम है। खाना पीना सब बिसर गया है ! नंद यशोदा को क्षणमात्र का अवकाश नहीं। ऐसे समय देवता भी क्यों चूकते ! वे आकाश में अपने विमानों पर बैठकर हर्ष-ध्वनि करते हुए पुष्प वर्षा करने लगे।

एक स्त्री दूसरी से कह रही है कि आज नन्द के यहां पुत्र हुआ है। वन में मत जाओ। स्त्री पुरुष वहीं जा रहे हैं। उसी आनंदातिरेक का वर्णन है—

"आज वन कोऊ जिन जाइ।
सबै गाय और बछरा समेत सब आनहु चित्र बनाइ ॥
ढोटा है रे भयो महरि के कहत सुनाइ-सुनाइ।
सबहि घोष में भयो कोलाहल आनन्द उर न समाइ ॥
कत हो गहर करत रे भैया वेगि चलो उठि धाइ।
अपने अपने मन को चीत्यो नैननि देखो आइ" ॥

नन्द के द्वार भीड़ मची हुई है। लोग नाना भाँति से आनंद मना रहे हैं। नन्द वस्त्राभूषण बांट रहे हैं—

"आजु नन्द के द्वारे भीर।

एक आवत एक जात विदा होइ एक ठाढ़े मन्दिर के तीर'।

एक स्त्री दूसरी स्त्री से ऐसी सुन्दरता एवं आनन्द का कथन कर रही है। आनन्द और उत्साह की लहर लोगों मे आज उमड आई है।

है। प्रत्येक नर नारी को आज गोकुल में सौंदर्य ही सौंदर्य दिखाई देता है–

"शोभा—सिन्धु न अन्त रही री।
नन्द भवन भरिपूर उमंग चली,
व्रज की वीथिनि फिरति बही री ॥
यशुमति उदर अगाध उदधि तें उपजी ऐसी सबन कही री।
सूर श्याम प्रभु इन्द्र नीलमणि व्रजवनिता उरलाई गुही री ॥

तुलसी के केवट के समान गोकुल-निवासियों की लालसा देखे ही बनती है। यह लालसा उनकी धृष्टता है या आग्रह ?

गोवर्धनवासी एक अतिथि महानुभाव आये हैं। मार्ग में लौटते हुए मनुष्यों को इन्होंने राजा के समान जाता हुआ देखा है। उसी की प्रशंसा एवं नन्द की उदारता का वर्णन निजानन्द सहित नन्द से कर रहे हैं। साथ ही ऐसे विचित्र अतिथि हैं कि जो आनन्द उन्हें यहां प्राप्त हो रहा है, उसे छोड़कर जाना ही नहीं चाहते। नन्दजी से वे यही भिक्षा माँगते हैं कि जब तक मदनमोहन पांव-पांव चलकर आँगन में न आयें और बोलने न लगें तब तक उन्हें उनके द्वार पर ही पड़ा रहने दिया जाय।

"नन्द जू मेरे मन आनन्द भयो हौं गोवर्धन तें आयो।
तुमरे पुत्र भयो मैं सुनिकै अति आतुर उठि धायो ॥
वंदीजन, अरु भिक्षुक सुनि-सुनि दूरि-दूरि ते आये।
ते पहिरे कंचन मणि भूषण नाना वसन अनूप।
मोहि मिले मारग में आवत मानो जात कहूँ के भूप ॥
तुम तो परम उदार नन्दजू जिन जो मांग्यौ सो दीनो।
दीजे मोहि कृपा करी सोई जो हौं आयो मांगन।
यशुमति सुत अपने पाइन जब खेलन आवे आंगन ॥
जब तुम मदनमोहन करि टेरो कहि-सुनि कै घर जाऊँ।

हों तो तेरो घर को ठाढ़ी सूरदास मेरो नाऊँ ।।

जन्म होते ही तो यह बात थी। अब बालक के लिए सबसे प्रथम एक पलने की आवश्यकता होती है। माता यशोदा ने एक सुतार को बुलाया है। उससे कह रही हैं—"हे बढ़ई, अमुक-अमुक परिमाण का एक पलना बना दे और देख, उसमें इस स्थान पर मणियां, उस स्थान पर मुक्ता-मालाएँ लगाना। इस जगह रेशम की डोरियाँ बाँधना-दूसरी जगह रत्न को जड़ना।" इस प्रकार यशोदा के आदेश में मार्मिकता की उत्कृष्टता देखने योग्य है। उसके हृदय का आवेगमय उत्साह उमड़ा पड़ रहा है—

"अति परम सुन्दर पालना गढ़ि ल्याव रे बढ़ैया।
शीतल चन्दन कटाउ धरि खरादि रंग लाउ,
विविध चौकी बनाउ रंग रेशम लगाउ,
हीरा, मोती, लाल मढ़ैया ।।"

अनेक नर-नारी बालकृष्ण की रूप-माधुरी का पान करने नित्य-प्रति आया ही करते थे। कंस द्वारा प्रेरित पूतना भी सुन्दर रूप धारण कर आई। चाहा कृष्ण को मार डालूं, पर स्तन-पान कर उन्होंने उसे पल भर ही में यम को सौंप दिया। इस अद्भुत घटना की चर्चा भी घर-घर फैल गई। जैसा कि बहुधा होता ही है। इस घटना पर सूरदास ने कई पद कहे हैं।

यशोदानन्दन कुछ बड़ा हो गया है। स्त्रियां पहिले तो केवल दर्शन करती थीं, अब लोभी के धन के समान उनकी अभिलाषा अधिकाधिक बढ़ती जाती है। श्याम गोद में उठाने योग्य हो गया है। कोई स्त्री उन्हें गोद में उठाती है। कोई कन्धे पर बैठाती है। कोई एक दूसरे से उनको मांगती है और कोई यह इच्छा करती है कि श्याम कुछ और बड़े हों। यशोदा के हर्ष का क्या पूछना? कभी चूमती है, चुमकारती

है, कभी गोद उठाती है, कभी पलना झुलाती है। इसी आनन्द में व्रजवासियों और यशोदा एवं नंद का जीवन व्यतीत होता जाता है। और एक के बाद दूसरी अभिलाषा दिन-दिन बढ़ती जाती है।

"नैक गोपालै मोको दै री।
देखौं कमल बदन नीके करि ता पीछे तू कनिया लै री॥"

बालक कृष्ण के बड़े होने की अभिलाषा भी परम सुन्दर है। उनका रोना, खीझना, हँसना सभी अनुपमेय है—

"कन्हैया हाल रोदन रोई।
हौं वारी तेरे इंदु-बदन पर अति छवि अलगनि गोई॥"

कृष्ण पलने में सोये हैं यशोदा पालना झुला रही है। जिस परब्रह्म के वश में समस्त त्रिलोक है; अमर, नर, किन्नर जिसके सेवक हैं आज वह माता यशोदा को रोकर, किलकारी देकर, पलने में पड़ा हुआ अनिर्वचनीय सुख दे रहा है—

"गोपाल राई पलने झुलाये।
सुर मुनि कोटि देव तेतीसों देखन कौतुक अम्बर छाये॥

... ...

हुलसत-हुलसत करत किलकारी मन अभिलाषा बढ़ाये।
सूर श्याम भक्तन हित कारण नाना वेष बनाये।

श्याम सोये-सोये ही नाना कौतुक कर रहे हैं। स्वभावतः ही हाथ-पांव चला रहे हैं। कभी हाथ का अँगूठा मुंह में लेते, कभी पांव का। यहाँ तो ये क्रियाएँ प्राकृत रूप से हो रही हैं, पर बेचारे शिव-

सूर का आतंक वर्णन

ब्रह्मादि पर बड़ा आतंक छा गया है। वे सोचते हैं कि भगवान की न मालूम क्या इच्छा है। कहीं प्रलय तो नहीं होने वाला है! परब्रह्म की आंतरिक इच्छा को 'बपुरे सुर नर' क्या समझें! जहां देवता इतने भय-

भीत है, वहां ब्रजवासियों को इसकी जरा भी आंच नहीं लगी है। इस प्रकार का सुन्दर, सरस एवं अद्भुत आतंक-वर्णन प्रायः नहीं मिलता। ऐसी रचनाओं में तो प्राप्त ही नहीं हो सकता, जिसमें बालक ईश्वर रूप नहीं माना जाता—

"कर पग गहि अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि-हरषि अपने रंग खेलत॥
शिव सोचत विधि बुद्धि विचारत बट बाढ्यो सागर जल झेलत।
विडरि चले घन प्रलय जानि कै दिगपति दिग दंतीन सकेलत॥
मुनि मन भीत भये भव कंपित शेष सकुचि सहसौ फन फेलत।
उन ब्रजवासिन बात न जानी समुझे सूर शकट पगु पेलत॥
"यशोदा मदनगोपाल सुवावै।
देखि स्वप्न-गति त्रिभुवन कंप्यो ईश विरंचि भ्रमावै॥
असित अरुण सित आलस लोचन उभै पलक पर आवै।
जनु रवि गति संकुचित कमल युग निशि अलि उड़न न पावै॥
चौंकि-चौंकि शिशु दशा प्रकट करि छवि मन में नहि भावै।
जानों निशि पति धरि करि अमृत श्रुति भण्डार भरावै॥
श्याम उदर उरमति यों मानों दुग्ध सिन्धु छवि पावै।
नाभि सरोज प्रकट पद्मासन उतरि नाल पछितावै॥
कर सिर तर करि श्याम मनोहर अलक अधिक सों भावै।
सूरदास मानो पन्नग पति प्रभु ऊपर फन छावै॥"

ऐसी ही आनन्द-केलि में दिन व्यतीत होते किसी को ज्ञात नहीं होते। एक दिन की बात है, बालक तो थे ही श्रीकृष्ण पलने में से नीचे गिर पड़े। इसका वर्णन भी सूर ने किया है। सूर की दृष्टि से बालसीला एवं क्रीडा-सम्बन्धी कोई भी अंग अछूता नहीं रहा है। श्याम अब साढ़े तीन

सूर का बालक्रीडा, शृंगार रस का परिचय तथा विभिन्न लीलाएँ

हो चुका है । स्त्रियों का दर्शन करने आना व गोद में उठाने
...न में झगड़ना अब भी नहीं छूटा है । क्षण-क्षण, दिन-दिन
में नवीनता ही नवीनता रहती है । यशोदा अब सोचती है कि
लाड़ला घुटनों के बल चलेगा । कब उसकी दतुलियाँ दिखाई
द... ...तृहृदय का सूर को कैसा और कितना परिचय है, यह इसी से ज्ञात होता है । माता की स्वभावतः यह इच्छा रहती है कि उसका प्यारा बालक शीघ्र ही बड़ा हो जाय । बड़े होने पर घुटने चलने की इच्छा होती है । घुटनों चलने लगता, तो खड़े होने की, बोलने, क्रीड़ा, कौतुक करने की अभिलाषा बढ़ती ही जाती है ।

यशोदाजी सोचती है—

"नन्द घरनि आनन्द भरी सुत श्याम खिलावै ।
कबहुँ घुटुरुवनि चलहिंगे कहि विधिहि मनावै ॥
कबहुँ दंतुली द्वै दूध की देखौं इन नैननि ।
कबहुँ मुख बोलि हैं सुनिहौं इन बैननि ॥

यह अभिलाषा शनैः-शनैः व्यग्रता, उत्सुकता एवं अधीरता में परिणत हो जाती है ।

उत्तरोत्तर उनका विकास आगे के पदों में होता जाता है । सागर की लहरों के समान एक लालसा शांत नहीं हो पाती है और उसके प्रथम ही दूसरी उसका स्थान ग्रहण कर लेती है—

"यशुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरो लाल घुंटरुअन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै ॥
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै ।
कब नंदहि कहि बाबा बोलै कब जननि कही मोहि ररै ॥
कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि झगरै ।
कब धौं तनक तनक कछु खैहै अपने कर सों मुखहि भरै ॥

कब हाँस बात कहेंगे मोहि सो छवि देखत दुःख दूर करैं।

ऐसे लीलाकारी कौतुकी श्याम को भला कौन न चाहेगा ? माता पिता के तो वे प्राणधन थे ही। जिस परब्रह्म के लिए शिव, ब्रह्मा आदि का पाना भी दुर्लभ है, वह आज यशोदा की गोद भर रहे हैं। उसके गृह को सौभाग्य शाली बना रहे हैं, फिर भी क्या यशोदा अपनी छाती से उस प्यारी मूर्ति को लगा हृदय नहीं जुडायेगी।

"अब हौं श्याम बलि जाऊँ हरी।

निश-दिन रहति विलोकति हरि मुख छाँड़ि सकति नहि एक घरी।"

माता यशोदा की इन अभिलाषाओं को बालकृष्ण भी कब अतृप्त रखने वाले थे। जब कभी किसी कारण से उनको दुःख होता है, तब श्याम जरा हँसकर, किलकिलाकर उनका दुख मोचन करते हैं—

"हरि किलकति यशुदा की कनियाँ।

निरखि-निरखि मुख हँसत श्याम सों मो निधनी के धनियाँ॥"

श्याम और बड़े हो गये। छः महीने में कुछ ही दिनों की कमी है। अब माता-पिता को अन्न-प्राशन की चिन्ता पड़ी। वह भी क्यों रहे ? प्रत्येक रीति-रस्म त्यौहार संस्कार यथाविधि मनाया जाता है। बस एक दिन ब्राह्मण को बुलाकर शुभ दिन पूछा और तब से ही यशोदाजी उसकी तैयारी में तत्पर होकर लग गईं। उस मंगल-दिन यशोदा ने सखी-सहेलियों को बुलाया। गायनादि गवाये। इस समय भी कोई स्त्री उनको उठाती है, कोई झकझोरती है। एक ओर कान्ह के मुंह जूंठा करने के लिये षटरस व्यञ्जन तैयार हो रहे हैं। बस उस मंगल घड़ी के आने में अब थोड़ा ही समय रह गया है। नन्द आ गये और प्यारे लड़के कन्हैया को गोद में बैठाने को मांगा। उधर यशोदा ने उन्हें स्नान करवाया, वस्त्राभूषण पहिराये और नंद की गोद में बैठा दिया। सबको सब प्रकार के व्यंजन परोस दिये गये। कृष्ण का अन्न प्राशन हुआ और

फिर जिसकी जो इच्छा हुई। उसने वह पदार्थ खाया। अब यशोदा बार-बार अपने लाल के मुखको चूम-चूमकर उसकी सुन्दरता की सराहना कर रही हैं और नेत्र सफल कर रही है—

"लाल तेरे मुख ऊपर वारी।

बलि कैसे मेरे नैनन की लगे लेऊँ बलाई तिहारी।"

यशोदा, नन्द तथा अन्य ब्रजवासी ऐसे ही खेलते-खिलाते अपना समय व्यतीत करते जाते हैं और उन्हें कुछ ज्ञान नहीं होता कि वह किस प्रकार निकल गया। परसों श्याम साढ़े तीन मास के थे, कल ६ के हो गये और आज श्याम पूरे वर्ष भर के होने जा रहे हैं। जब वर्ष भर के हो रहे हैं तो उनकी वर्षगाँठ भी मनाना चाहिये। माता यशोदा अन्न-प्राशन का उत्सव अभी समाप्त ही नहीं कर पाई थीं कि वर्षगाँठ आ गई। नन्द इधर-उधर फूले-फूले फिरते हैं। उन्हें बड़ी खुशी हुई है। ग्राम-महिलाओं को इस उत्सव निमित्त बुलाया जा रहा है। इधर फूल-तमाल लाने की तैयारी हो रही है उधर यशोदा आंगन लिपवा रही है। चौक पुरवा चौकी ढलवा रही है। स्त्रियों को नये-नये वस्त्राभूषण दिये जा रहे हैं, ताकि सब सुन्दर दिखाई दें। उनके उत्साह की वृद्धि हो। यशोदा श्याम को नहाकर अब शरीर पोंछ काजल और दिठौना लगा रही है। कृष्ण भी मचल रहे है, रो रहे हैं। बाल-कलह कर रहे हैं—

"आज भोर तमचुर की रोल।
गोकुल में आनन्द होत है मंगल-ध्वनि महाराने टोल॥
फूले फिरत नन्द अति सुख भयो हरषि मँगावत फूल तमोल।
फूली फिरत यशोदा घर-घर उबटि कान्ह अन्हवाइ अमोल॥
तनक बदन दोउ तनक-तनककर तनक-चरन धोवत परभोल।
कान्ह गले सोहे कंठमाला अंग अभूषण अँगुरिन गोल॥

शिर चौतकी दिठौना दीने आंखि आंजि पहिराइनि चोल।
श्याम करत माता सो झगरा अटपटात कलबल कर बोल !!
दोउ कपोल गहिकै मुख चूंबति दर्प-दिवस कहि करत कलोल।
सूरश्याम व्रजजन-मनमोहन बरष गांठि को डोरा खोल॥

वर्षगांठ हुई और उसके समाप्त होते न होते ही कनछेदन संस्कार आ उपस्थित हुआ। पहिले यशोदा के हृदय में कुछ भय का संचार-सा हुआ, पह क्षण भर में वही आनन्द में परिणत हो गया। सब व्रज-युवतियों ने गाते-बजाते इसे भी समाप्त कर लिया। अब श्याम घुटनों के बल चलने लगे हैं। जिस बात को देखने की अभिलाषा आज ६ महिने से लगी हुई थी वह भी आज पूर्ण हुई। श्याम घुटनों के बल चल-चलकर कभी इधर जाते, कभी उधर; कभी नन्द की गोद, कभी यशोदा के अचल में। कभी श्याम किलकारी देकर हँसते हैं, कभी मणि-रत्न-जटित आँगन में अपना प्रतिबिम्ब देखने लगते हैं। सब व्रजवासियो के मध्य श्याम को सूर की अमृत वाणी में खिलवाड़ करते देखिये आर बार-बार सूर की, अनाक्षी सूर की लेखनी चूम लीजिये—

"घुटुरुअन चलत श्याम मणि आंगन मात-पिता दोउ देखत री।
कबहुँक किलकिलात मुख हेरत कबहुँ जननि मुख पेखत री॥

... ...

कबहुँक दौरि घुंटरूअन लटकत गिरत फिरत फिर धावत री।
इतते नन्द बलाय लेत हैं उतते जननि बुलावत री॥"

श्याम यहाँ-वहाँ फिर रहे हैं। फर्श पर उनका प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है। वे यह तो समझते नहीं, क्या है? उसे ही पकड़ने दौड़ते हैं। कुछ-कुछ मुंह से बोलने लगे हैं, पर स्पष्टता से बोली नहीं निकलती है। कुछ बोलना चाहते हैं कुछ निकल जाता है।

"बाल विनोद खरो जिय भावत।

सुत प्रतिबिम्ब पकरिबे कारण हुलसि घुटरुअन धावत ॥
छिनक भोंक त्रिभुवन की लीला शिशुता मोह दुरावति ।
शब्द एक बोल्यो चाहत हैं प्रगट वचन नहीं आवत ॥
कमल नैन माखन मांगत हैं ग्वालिनि सैन बतावत ।
सूर श्याम सुसनेह मनोहर यशुमति प्रीति बढ़ावत ॥"

जब घुटनों के बल चलने लगे; तो श्याम कहीं के कहीं चले जाते हैं। हाथ-मुंह में धूलि लपेट लेते हैं। गिरते-पड़ते माता के पास पहुँचते हैं। माता झट से दौड़कर गोदी में उठा लेती है और धूल झाड़ मुंह पोंछ पूछती है—यद्यपि श्याम उत्तर नहीं दे सकते हैं—कि तूने यह धूल कहां से लगा ली—

"नन्दधाम खेलत हरि डोलत ।
यशुमति करत रसोई भीतर आपुन किलकत बोलत ॥
टेरि उठी यशुमति मोहन को आवहु घुटुरुवन धाये ।
बैन सुनत माता पहिचानी चलैं घुटुरुवनि पाये ॥
लै उठाय अंचल गहि पोंछे धूर भरी सब देह ।
सूरज प्रभु यशुमति रज झारति कहाँ भरी यह खेह ॥"

जब कुछ और बड़े हुए तो हाथ पकड़कर चलना सिखा रही हैं—

"धनि यशुमति बड़भागिनी लिये श्याम खिलावै ।
तनक-तनक भुज पकरिकै ठाढ़ो होन सिखावै ॥
लरखरात गिरि परत हैं चढ़ि घुटुरुअन धावे ।
पुनि क्रम क्रम-भुज टेक कै पग द्वैक चलावै ॥"

श्याम चन्द्रकला की भाँति बढ़ते जाते हैं। कभी इधर जाते हैं कभी उधर, कभी घर के इस आंगन में कभी उस आंगन में, कभी लड़खड़ाकर गिर पड़ते हैं और उठकर फिर भागने लगते हैं कभी सीढ़ियों से उतरना चाहते हैं, कभी उन पर चढ़ना। कभी माता जब

उनको सीढ़ियों से उतरते देख लेती है, गिरने के भय से स्वयं जाकर उन्हें उतारने लगती है। सूर आश्चर्य प्रकट करते हैं जिस शक्ति से बड़े-बड़े राक्षसों का, शक्तिशालियों का दर्प दूर किया वह दर्प कहां है ? जिस शक्ति ने रावण सदृश योद्धा का वधकर डाला, पूतना का संहार किया वह जरा-जरा में ठोकर खाकर गिर रहा है।

कृष्ण की इस मनोमोहिनी बाल-क्रीडा से नन्द और यशोदा को ही आनंद नहीं प्राप्त होता, वरन यह आनंद-अंबुधि तो उमडकर सब व्रजवासियों को निमग्न कर रहा है। जो इस रस सागर का सुख उठा लेता है, वह फिर इसे त्याग अन्यत्र नहीं जाता। ग्राम-ललनाओं की तो यह दशा है कि जबसे उन्होंने इस माधुरी का आस्वादन किया है। क्षण भर भी घर में रहना दूभर होगया है। वापिस आई नहीं कि फिर वहीं पहुँचीं। घर से उनका स्नेह ही टूट गया है। बार-बार उनकी सुन्दरता का ही ध्यान बना रहता है। श्याम की बाल-क्रीडा के सिवा कुछ अन्य कथन नहीं कहने को, व्यवसाय नहीं करने को—

> "जबते मैं खेलत देखो आंगन यशुदा को पूत री।
> तबते गृह सों नाहिन नातो टूटो जैसो काचो सूत री॥
> अति विशाल वारिज दल लोचन राजति काजर रेख री।
> इच्छा सों मकरन्द लेन मनो अलि गोकुल के वेप री॥
> श्रवणन नहीं उपकंठ रहत है अरु बोलत तुतरात री।
> उमंगे प्रेम नैन मगन ह्वै कै कापै रोले जान री॥
> दमकत दोउ दूध की दतियां जगमग-जगमग होत री।
> मानों सुन्दरता मन्दिर में रूप रतन की ज्योति री॥
> सूरदास देखो सुन्दर मुख आनन्द उर न समाइ री।

इस प्रकार जो वहां जाता है श्याम की विचित्र क्रीड़ाओं पर मुग्ध होकर वापस लौटता है, सब व्रजवासी मंत्रमुग्ध से हो रहे हैं। उधर

श्याम अब बाहर भी खेलने के लिए जाने लगे हैं। सब ग्वाल-बालों के साथ आने पर वे बाहर खेलते हैं। कभी यशोदा काम करती रहती हैं और कभी बाहर आकर अपने सुत को देख जाती हैं। इतने में ही कभी श्याम को भूख लग आती है तो दौड़कर झट माता के पास माखन रोटी मांगने पहुँच जाते हैं। माता को जरा भी देर होती है तो रोने लगते हैं। उनके रोने में भी अकथनीय आनन्द आता है उनका मचलना भी मनोहर है। उनका तनक रोटी मांगना भी कितना प्यारा है?—

"तनिक दै री माइ।
माखन तनक दै री माइ॥
तनिक कर पर तनिक रोटी मांगत चरन चलाइ।
कनक भूपर रतन की रेखा नेक पकर्‌यो धाइ।"

इस प्रकार से स्वयं तो रोटी मांगने में शरमाते हैं, पर जब यशोदा बुलाती हैं तो खेलने की धुन में इतने मस्त हो जाते हैं कि फुसलाने से भी नहीं आते। तरह-तरह के प्रलोभन दिये जाते हैं, पर श्याम बाहर ही रहते हैं। माता यशोदा कहती हैं—

"कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बाढ़ै।
कंस केशि बक बैरिन के उर अनुदिन अनल उठै॥
यह सुनि कै हरि पीवन लागे त्यों-त्यों लियो लहै।

अचवत पै तातो लाग्यो रोवत जीभ उठै॥
पुनि पिवत ही कच टकटोवै झूठे जननि रहै।
सूर निरखि मुख हँसत यशोदा सो सुख उर न मढै।"

कृष्ण बार-बार अपनी चोटी टटोलते हैं, पर वह बढ़ती हुई दिखाई नहीं देती। अपनी बुद्धि से सोच-विचार फिर पीने लगते हैं और फिर देखने लगते हैं; पर फिर भी वह उतनी ही बड़ी रहती है। अब

तो उनको माता के झूठ बोलने का कुछ-कुछ ज्ञान हो जाता है। इतने में यशोदा भी मुस्करा उठती हैं। बस अब बालक का धैर्य जाता रहता है वह पूछ बैठता है—

"मैया कबही बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी॥
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लांबी मोटी।
काढ़त गुहत न्हवावत ओछत नागिनि सी भवैं लोटी॥
काचो दूध पिवावतपचि-पचि देत न माखन रोटी।
सूर श्याम चिरजीवौ दोउ भैया हरि हलधर की जोटी॥"

अब श्याम मम्मा, दद्दा कहना भी सीख चुके हैं। इसी से ये कहने "लगै मोहन मैया-मैया।
पिता नंद सों बावा-बावा अरु हलधर सों भैया।

बड़े होने पर बच्चे घर के भीतर रहना कम पसन्द करते हैं। उन्हें बाहर ही बाहर की लौ लगी रहती है। अतएव अब श्याम बाहर ही खेला करते हैं। कभी नन्द बाहर से आकर बुलाते हैं, तब बड़ी कठिनाई से श्याम आते हैं। संध्या हो जाती है। यशोदा मैया बार-बार बुला रही हैं, पर श्याम को आने की सुधि ही नहीं है। कोई भी बाहर घुमाने को ले जाय तो फौरन बाहर जाने को तैयार। घर में रहेंगे तो सीधे न रहेंगे। कुछ न कुछ खटपट चलती रहेगी और मिट्टी खाने में तो बड़े उस्ताद। बाल स्वभाव ही ऐसा होता है। बस जो चीज देखी मुंह में डाल ली। चाहे मिट्टी हो, पत्थर हो, लोहा हो, कुछ भी हो। बालकृष्ण भी जहां मिट्टी देखी, उठाकर गप्प कर गये। माखन-रोटी मैया बार-बार बुलाकर देती हैं, तो अच्छी नहीं लगती और मिट्टी ऐसी मीठी कि चुरा-चुराकर खाते हैं। जब यशोदा पूछती हैं कि मिट्टी क्यों खाई तो झट से कह उठते हैं—मैया मैंने मिट्टी नहीं खाई। कभी कह

देते हैं कि वे तो मेरे मुंह से मिट्टी लगा देते हैं और झूठ ही आकर तुम से कह देते हैं कि इन्होंने मिट्टी खाई है। कभी जब यशोदा मिट्टी खाते पकड़ लेती हैं, तब बस श्याम के होश गुम हो जाते हैं। वह उसे नहीं छोड़ते। यशोदा चाबुक लेकर कहती हैं—माटी उगलो। 'नहीं' कहने पर कहती हैं—अच्छा मुंह दिखाओ। मुंह खोलकर जब दिखाते हैं तो उन्हें ब्रह्माण्ड दीख पड़ता है और वे चकित होकर रह जाती हैं—

"खेलत श्याम पौर के बाहर बृज लरिका सोह्त संग जोरी।
तैसे आपु ते सेई लरिका सब अति अज्ञ सबनि मति थोरी॥
गावत हांक देत किलकारत दुरि देखत नंद रानी।
अति पुलकित गदगद मृदुबानी मन-मन महरि सिरानी॥
मांटी ले मुख मेल दई हरि तबहिं यशोदा जानी।
सोंटी लिये दौरी भुज पकरे श्याम लगै रई ठानी॥
लरिकन को तुम सब दिन झुठवत मोसों कहा कहोगे।
मैया मैं माटी नहीं खाई मुख देखो निबहोगे॥
बदन उघार दिखायो त्रिभुवन बन घन नदी सुमेर।
नभ शशि रवि मुख भीतर है सब सागर धरती फेर॥
यह देखत जननि जिय व्याकुल बालक मुख का आहि।
नैन उघारी बदन हरि मूंद्यो माता मन अवगाहि॥
झूठ ही लोग लगावत मोको माटी मोहि न सुहावै।
सूरदास तब कहति यशोदा ब्रज लोगन यह भावै॥"

श्याम ज्यों-ज्यों बड़े होने लगे, त्यों-त्यों और अधिक उत्पाती और बात बनानेवाले होते जाते हैं। उनका यह असत्य, उनकी यह चोरी भी कितनी प्यारी है! वास्तव में सूर के आनन्द का मथन करना 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी" है। कृष्ण सब ग्वाल-बालों को लेकर अब घर-घर चोरी करने निकल जाया करते हैं। जरा आँखें बचाईं उड़ाया

माखन और भागे। कौन पकड़ने दौड़ता है? और श्याम हाथ ही कब आने लगे हैं। देखा, कोई ब्रजनारी घर से बाहर चली गई है, घर पर कोई है नहीं, बस फिर तो खूब बन आई। चुपके से अपने सखाओं को संग लेकर अन्दर घुस गये। दधि, दूध, माखन की मटकी तक हाथ नहीं पहुंचता है, चट से एक सखा को घोड़ा बनाया, और चढ़ गये उसकी पीठ पर। खूब माखन बँटाई होने लगी। जैसी इच्छा खाया खिलाया, पिलाया, लुटाया और मटकी-झटकी फोड़, दूध-दही गिराकर भागे। बेचारी ब्रज-नारी जब घर आई तो श्याम की करतूत देखकर हैरान हो रही। यशोदा से जाकर शिकायत की पर माता यशोदा कब मानने लगीं? वे तो अपने ललना को भोला समझती है और कृष्ण भी बातें बनाने में निपुण हैं। एक दिन फिर किसी घर घुसे। आज पकड़े गये। वह पकड़कर माता के पास लाई। माता के पास आते ही उसे झूठा बना दिया। एक दिन घर पर ही पकड़कर कोई ललना क्रोधित होने लगी, बस क्षण भर उसकी ओर देखकर हँस दिये। वह ललना भी हँस दी और उन्हें हृदय से लगा लिया। एक दिन अकेले ही अँधेरे में घुस गये और माखन उड़ाने लगे। गृहस्वामिनी ने देखा तो मुग्ध हो गई और अँधेरे ही में उनकी मोहक छवि को निहारने लगी—

"आप गये हरुये सूने घर।
सखा सबही बाहर ही छोड़े देख्यो दधि माखन हरि भीतर॥
तुरत मथ्यो दधि माखन पायो लै लै खात धरत अधरनि पर।
सैनहू दै सब सखा बुलाये तिनहि देत भरिभरि अपने कर।
छिटक रही दधि बूंद हृदय पर इत-उत चितवत हरिमन में डर॥"

एक दिन ऊखल पर हाथ रख पीठ पर सखा को चढ़ा माखन चुरा लाये। गृहस्वामिनी गई और यशोदा को खबरकर आई। यशोदा आई और देखती रही।

"चोरी करत कान्ह धरि पाये।
निशि वासर मोहि बहुत सतायो अब हरि हाथहि आये॥
माखन दधि मेरो सब खाओ बहुत अचगरी कीन्हीं।
अब तो आइ परे हो ललना तुम्हें भले में चीन्हीं॥
दोउ भुज पकरि कह्यो कित जैहो माखन लेउ मंगाई।
तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यो सखा गये सब खाई॥
मुख तन चितै विहंसि हंसि दीनो रिस तब गई बुझाइ॥
लियो लाइ ग्वालनी हरि को सूरदास बचि जाई॥"

श्याम किशोरावस्था को प्राप्त हो रहे हैं। बारह वर्ष की अवस्था हो गई है। पहिले माखन चोरी का कोई दूसरा ही आनन्द था, अब कोई दूसरा ही हो रहा है। इस किशोर की छवि देख व्रज-वनिताओं ने धैर्य छोड़ दिया है। श्याम अब किसी दूसरे उद्देश से ही माखन चोरी करके खाने लगे हैं। यशोदा के पास शिकायत आती है, पर यशोदा को तो कृष्ण छोटे ही दिखाई देते हैं। और वे व्रज-युवतियों ही को निर्लज्ज कह डाँटकर रह जाती हैं। एक दिन कृष्ण ने एक युवती को दही मथते देखा। वे उसके द्वार पर जाकर खड़े हो गये। वह उन्हें देखकर विह्वल हो गई। दधि-दूध का लालच देकर धीरे से श्याम को अन्दर बुला लिया और बड़े जोर से हृदय से लगा लिया श्याम की छवि ने उसे बेसुध बना दिया था। श्याम ने तड़ाक से उसकी चोली फाड़ डाली, अब क्या करे। शायद घरवालों के डर से चली यशोदा के पास शिकायत करने—

"अपनो गांउ लेहु नंदरानी।
बड़े बाप की बेटी तातें पूतहि भले पढ़ावति बानी॥
सखा धरि लै पैठत घर में आपु खाइ तो सहिये।
मैं जब चली सामुहे पकरन तब के गुण कह कहिये॥

भाजि गये दुरि देखत कतहूँ मैं घर पौढ़ी आई :
हरे हो बेनी गहि पाछे बांधी पाटी लाई ॥
सुनु मैया याके गुण मोंसों इन मोहि लियो बुलाई ।
दधि में परि सेत की चींटी मोपे सबै कढ़ाइ ॥
टहल करत याके घर की मैं कह पति संग मिलि सोइ।
सूर वचन सुनि हंसी यशोदा ग्वालि रही मुख जोइ ॥"

इसके पश्चात दूध दुहना भी बड़ा मनोरंजक है । श्याम दूसरो को दूध दुहते देखकर स्वयं भी दूध दुहना सीखते हैं—

"मैं दुहिहूं मोहि दुहन सिखावहु ।
कैसे धार दूध की बाजति सोई-सोई विधि तुम मोहि बतावहु ॥
कैसे धरत दोहनी घुंटुवन कैसे बछरो थनहि लगावहु ।
कैसे ले नोई पग बांधत कैसे लै या पग अटकावहुं ॥
निपट भई अब सांझ कन्हैया गाइन पै कहुँ चोट लगावहुं ।
सूर श्याम सों कहत ग्वाल सब धेनु दुहन प्रातहि उठि आवहु ॥"

प्रातःकाल हो गया। श्याम अभी सोये ही हुए हैं। यशोदा और नंद जगा रहे हैं। उस समय की उनकी स्वाभाविक क्रियाएँ देखने योग्य होती हैं।

इधर कृष्ण जागे ही थे उधर माता ने जलपान की तैयारी पहिले से ही कर रखी थी। उठते ही मुंह धुलाया और दोनों भैयाओं को जलपान के लिए बैठा दिया। अब दोनों प्यार भरे वचनों से खा और [illegible] रहे हैं।

"[illegible] मोहन दोउ भैया [illegible] सों [illegible] नंदरानी ।
[illegible] अब [illegible] अघाने [illegible] मांगत पानी ॥"

एक बार इसी प्रकार ये जल पान कर ही रहे थे कि द्वार पर सब ग्वाल-बाल गाय चराने चलने को पुकारने लगे। अब क्या था, खाना-पीना भूल गये और जल्दी-जल्दी जैसे-तैसे कुछ खाया, कुछ डाला और भागे; क्योंकि आजकल दोनों भाइयों को गाय चराने का बड़ा चाव है। बड़ी रुचि से गाय चराने जाते हैं। प्रारम्भ में नये काम को सीखने में बच्चों को क्या सभी मनुष्यों को बड़ा उत्साह रहता है। वे बड़ी लगन से काम करते हैं और उसी में जुट जाते हैं। इधर जब इन्होंने भी द्वार पर सब सखाओं को पुकारते सुना, तो ये भी भागे। उत्सुकता से बाहर आकर पूछते हैं—

"कितिक दूर सुरभी तुम छांड़ी बन तो पहुँची आहीं ॥
ग्वाल कह्यो कछु पहुँची ह्वै हैं कछु मिलि हैं मगमाहीं।
सूर श्याम बल मोहन जैया गैयन पूछत जाहीं ॥"

वन में गाय चराने पहुच गये हैं। इधर-उधर चराते चराते मध्याह्न हो गया है। इस समय कृषक-कन्याएँ तथा वधुएँ खेतों पर भोजन ले जाती हैं। कृष्ण और बलराम के लिए भी कोई ब्रज-वधू दुपहर को भोजन लाई है। पर ये दोनों मस्त जीव। छिपकर उसे कुछ तंग कर रहे हैं। वह खीझ ही रही थी कि श्याम ने उसकी बड़ाई कर उसे शांत कर दिया—

"ऐसी भूख माँझ तू ल्याई तेरी केहि विधि करौं बड़ाई।
सूर श्याम सब सखन पुकारत आवहु क्यों न छाक है आई ॥"

सखाओं के आ जाने पर सब साथ-साथ बैठे। क्या चुहलबाजी हो रही है? कितना विनोद एवं आनन्द हो रहा है? भिन्न-भिन्न जब खाने बैठते हैं, तो यही आनंद आता है—

"ग्वालन करते कौर छुड़ावत।
जूठो लेत सबन के मुख को अपने मुख लै नावत ॥"

भगवान के बाल-स्वरूप का चकरी भौंरा खेलना भी बड़ा मनो-हर है। कृष्ण भौंरा मांग रहे हैं—

"दे मैया भंवरा चक डोरी।
जाइ लेहु आरे पर राखो, काहि मोल ले राखै कौरी॥
ले आये हँसि श्याम तुरत ही देखि रहे रँग-रँग बहु डोरी।
मैया विना और को राखत बार-बार हरि करत निहोरी॥
बोलि लिये सब सखा संग के खेलत श्याम नंद की पोरी।
तैसेई हरि तैसेई सब बालक कर भँवरा चकरिनि की जोरी!
देखति जननि यशोदा यह छवि विहँसत बार-बार मुख मोरी।
सूरदास प्रभु हँसि-हँसि खेलत ब्रज बनिता तृण डारत तोरी॥"

इसी प्रकार अनेक क्रीड़ा-कौतुकों में समय व्यतीत होता कुछ जान नहीं पड़ता। एक दिन एक स्थान पर श्याम चकरी भौंरा खेल रहे थे, वही पर उन्हें प्रथम बार ही राधिका के भी दर्शन हो गये। वह नीली फरिया पहिने हुये थी। उसका गौरवर्ण है। वह बड़ी भोली है। उसे देखते ही कृष्ण प्रथम बारही में मोहित होगये। कृष्ण राधा से अब उसका परिचय पूछते है। दोनों का परस्पर वार्तालाप एवं कृष्ण का राधा को संग ले जाना भला प्रतीत होता हैं—

"बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहा रहत काकी है बेटी नहीं कहूँ ब्रज खोरी॥
काहे को हम ब्रजतन आवति खेलति रहति आपनी पोरी।
सुनति रहति श्रवणनि नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी॥
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलो संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमनि बातन, भुरइ राधिका भोरी॥

राधिका का परिचय पूछा। अब श्याम अपना परिचय दे रहे हैं और राधा से कभी-कभी अपने यहां खेलने आने के लिए कह रहे

है। दोनों की अल्प वय है। पर इसी वय में दोनों का कितना प्रेम हो गया है—

> "प्रथम सनेह दुहुँन मन जान्यो।
> नैन-सैन कीनी तब बातैं गुप्त-प्रीति सिसुता प्रगटान्यो॥
> खेलन कबहुं हमारे आवहु नन्द-सदन, ब्रज गांव।
> द्वारे आइ टेरि मोहि लीजो कान्ह है मेरे नाउँ॥
> जो कहिये घर दूरि तुम्हारो बोलत सुनिये टेर।
> तुमहि सौंह ब्रजभानु बबा की प्राछ साझ इक फेर॥
> सूधी निपट देखियत तुमको ताते करियत साथ।
> सूर स्याम नागर उन नागरि राधा दोउ मिलि गाथ॥"

बस अब कभी-कभी दोनों मिल लेते हैं। पर घर कोई कुछ पूछता है तो कुछ बहाना कर दिया जाता है। दोनों एक-दूसरे को जाने देना नहीं चाहते हैं। इसी विषय की जरा राधिका की सुकुमार सूक्तियाँ देखिये—

> "नन्द बबा की बात सुनो हरि।
> मोहि छाड़ि कै कबहुँ जाहुगे ल्याऊँगी तुमको धरि॥
> भली भई तुम्हे सौंप गये मोहि जानि न दैहों तुमको।
> बाँह तुम्हारी नेक न छोड़ि हों महरि खीझिहै हमको॥
> मेरी बांह छांडि दै राधा करत उपर फट बातें।
> सूर स्याम नागर नागरि सों करत प्रेम की घातें॥"

कृष्ण ने राधिका की नीवी पकड़ धीरे से श्रीफल पर कर सरोज रखा। इतने ही में यशोदा आ गईं। श्याम झट से बालक बन यशोदा माता से राधिका से झगड़ा करते हुए कहते हैं—देखो माता इसने मेरी गेंद चुरा ली है—

"नीवी ललित गही यदुराई ।
जबहि सरोज धरो श्रीफल पर तब यशुमति गइ आई ।।
तत्क्षण रुदन करत मनमोहन मन में बुधि उपजाई ।
देखो डीठ देत नहि माता राखो गेंद चुराई ।।
काहे को भक झोरत नोखे चलहु न देहु बताई ।
देखि विनोद बाल सुत को तब महरि चली मुसकाई ।।"

धीरे-धीरे उनका यह श्रृंगार-रस-पूर्ण-विनोद बढ़ता जाता है । कृष्ण-राधिका नये-नये उपाय ढूंढ़ मिल लेते हैं । एक दूसरे पर रीझते और खीझते हैं । जब से दोनों मिले हैं, घर पर रहना अच्छा नहीं लगता । कभी श्याम राधिका की उढ़नियां उठा लाते और वह इनका पीताम्बर ओढ़कर चली जाती हैं । इसी पर दोनों के घर बहानेबाजी चलती है । राधिका को विह्वल देख उसकी मा पूछती है—"बेटी तू आज कैसी विह्वल दिखाई देती है । खेलने जब गई थी तब तू ऐसी नहीं थी ।" राधिका कहती है—आज खेलते-खेलते मेरी तबियत खराब हो गई पर भला करे उस नंद सुत क जिसने ऐसी शीतल भारी जल सींचा कि मेरा हृदय ठंडा हो गया है । अभी तक इधर-उधर ही ये लोग मिल लिया करते थे । एक दिन खेलने के बहाने मे ही राधिकाजी नंद के यहां खेलने आ गई राधिकाजी ने कान्ह के विषय में पूछा । कान्ह भी विचित्र और विनोद-पूर्ण परिचय देते हैं—

"सुनत श्याम कोकिल सम वाणी निकसे अति अतुराई हो ।
माता सों कछु करत कलह हरि सो डार्यो बिसराई हो ।।
मैया री तू इसको चीन्हति बारंबार बताई हो ।
यमुना तीर काल्ह मैं भूल्यो बांह पकरी लै आई हो ।
आवति यहां तोहि सकुचति है मैं दै सोंई बुलाई हो ।
सूर श्याम ऐसे गुण आगर नागरि बहुत रिझाई हो ।।

कृष्ण का परिचय देखते ही बनता है, कितना बुद्धि-पूर्ण है। राधिकाजी शरमा रही थी। बड़ा साहस कर तो वे यहां तक आ पाई थी। यदि इसी संकोच-वश वापिस लौट जाती तो श्याम को उनका सम्मिलन-सुख कहां प्राप्त होता; अतएव श्याम भी किस बुद्धिमानी से इधर माता को परिचय देते हैं और उसमें अपने ऊपर राधिका उपकार जताते हैं। भला ऐसी उपकार करने वाली राधिका को क्या यशोदा दूर से ही भगा देती? इधर इस कथन से राधा का संकोच भी दूर हो गया। सूर की सूझ कितनी दूर तक पहुँचती है, यह यहां देखने योग्य है।

राधिका अब प्रतिदिन आने लगी हैं। माता यशोदा की आज्ञा भी राधिका को हो गई है। दोनों तरह-तरह के खेल नित्य-प्रति खेला करते हैं। कभी खेलते खेलते दोनों लड़ भी पड़ते हैं। एक दिन दोनों की लड़ाई हुई। कृष्ण ने राधा की चूनरी फाड़ डाली। कभी जब वे प्रसन्न होते, राधा को तिलक कर देते हैं। हृदय तो उनका मिला हुआ है, किंतु कभी-कभी ये अल्पवयस्क बालक-बालिका बाह्य रूप से यह प्रदर्शित करने के लिए कि उनमें प्रेम नहीं अपने माता पिता को बड़ी ही युक्तियों से बनाया करते हैं। राधा-जननी और यशोदा उनके घनिष्ट प्रेम को लक्षित न कर पायें, यही इस समय उनका उद्देश्य रहता है। इसीलिए उनके मनोभावों को उभाड़कर वे अपनी स्नेह-ग्रन्थि और भी कड़ी करते जाते हैं। राधा अपनी माता से कहती है—

'मेरे आगे महरि यशोदा मैया री तोहि गारी दीन्हो।
बाकी बात सबै मैं जानति वै जैसी-तैसी मैं चीन्ही॥
तोको कहि पुनि कह्यो बबा को बड़ो धूर्त वृषभानु।
तब मैं कह्यो ठग्यो कब तुमको हँसि लागी लपटान॥

भली कही तैं मेरी बेटी लयो आपनो दाउ।
जो मुंहि काढ़यो सबै उनके गुण हँसि हँसि कहत सुभाउ ॥'

इधर राधिका का यह हाल था। उधर श्याम भी माता को यह दिखाने के लिए कि राधिका से मेरी प्रीति नहीं है, अथवा जैसा बच्चे बहुधा बालस्वभाव-वश कहा करते हैं, कृष्ण भी यशोदा से समझा-समझाकर कहते हैं—

"कहत कान्ह जननि समुझाई।
जहां तहां डारे रहत खिलौना राधा जनि ले जाइ चुराई ॥
सौंझ सवेरे आवन लागी चितै रहति मुरली तन आइ।
इन्हीं में मेरे प्राण बसत हैं तेरे माथे नेकु न माइ ।।"

माता यशोदा अच्छी-अच्छी हृष्ट-पुष्ट गायों का दूधगर्म कर और फिर ठंडा कर कृष्ण को पिलाना चाहती हैं, पर कृष्ण भी मचल मचलकर विशेष गायों का दूध ही पीने की इच्छा प्रकट करते हैं। कभी कहते हैं, मैया, मै उस काली गाय का दूध पिऊँगा। कभी कहते उस धौरी गाय का दूध मैया मुझे अच्छा लगता है। फिर कभी कृष्ण गाय चराने जाने के लिए मचलते हैं। मैया बहुत समझाती हैं कि भैया तुझे वहाँ धूप लगेगी, भूख लग आवेगी, पर कृष्ण कब मानने लगे। वे कहते हैं—नहीं मैया, मुझे धूप नहीं लगेगी। वहाँ मैं वन फल खा लूंगा तो मेरा पेट भर जायगा। बड़ी हठ करते हैं और वन को जाये बिना नहीं मानते। गाय चराने चले तो गये, पर संध्या को जब वापिस लौटे तो मुंह सूखा हुआ था। यशोदा ने झपटकर गोद में उठा लिया। पूछने लगी—कान्ह तू मेरे लिये भी कुछ लाया। यह पूछ नहीं पाई कि शीघ्र ही ममता-वश श्याम से माखन-रोटी खाने को पूछने लगीं-

"यशुमति दौरि लए हरि कनियाँ।
आज गयो मेरो गाय चरावनि हौं बलि गई निधनियाँ ॥

मो कारण कछु आन्यो हैं बलि बन-फल तोरि कन्हैया।"

इसके पश्चात कई पृष्ठों तक काली-मर्दन एवं दावानल पान या है। श्याम फिर गाय चराने जाने लगे। जंगल में गायें इधर-उधर चली जाती हैं। सन्ध्या समय उन्हें इकट्ठी करके घर पर लाना होता है। जब वे बहुत दूर निकल जाती हैं, निकट मे दिखाई नहीं देती, तब किसी बड़े वृक्ष पर चढ़कर जोर-जोर से उन्हें बुलाना पड़ता है। ग्राम्य-जीवन का जिन्हें अनुभव है, वे इस बात को भलीभांति जानते हैं। श्याम बड़े कार्य-तत्पर हैं। भला उनके सिवाय वृक्षों पर चढ़कर गायों को कौन बुलाये? सब इन्हीं से प्रार्थना करते हैं। ये पुकारने के लिए मुरली बजाते हैं। सहज स्वभाव से उधर व्रज वनितायें श्याम-बांसुरी पर मुग्ध हो वन को भागी आती हैं। ऐसे प्रसंगों के चित्र बड़े मनो-मुग्धकारी हैं।

| माधुरी |

श्याम की इस मुरली का प्रभाव कम नहीं है। बेचारी व्रज नारियां तो स्त्रियां ही हैं। इसका प्रभाव तो बडा व्यापक है। पशु-पक्षी, ऋषि-मुनियों तक पर पडता है। बस श्याम के अधर पर रखने की ही देर है कि उसका प्रभाव अलौकिक पडता है।

श्याम की सुन्दरता एव मुरली मधुरता का सूर ने बडा ही विशद वर्णन किया है। पद के पश्चात् पद पढ़ते जाइये, आनन्द की वृद्धि होती ही जायगी। कहीं शिथिलता का नाम नहीं और न कहीं जी ऊबेगा।

मुरली का प्रभाव भी विशद है।

"तब लगि सबै सयान रही।
जब लगि नवल किशोरी मुरली बदन समीर बही।
तबहीं लौं अभिमान चातुरी पतिव्रत कुलहि चही॥

जब लगि श्रवण रन्ध्र मग मिनिकैं नाहीं दहै बही।
तब लगि तरुनी तरल चंचलता वुधि बल सकुचि रही॥
सूरदासं जब लगि वह ध्वनि सुनि नाहिन बनत कही॥"

जिसकी मुरली इतनी प्रभावशाली है भला उस पर भोली-भाली व्रजनारियां कैसे मोहित न होंगी। धन्य है माता यशोदा, धन्य है पिता नन्द, धन्य है वह मुरली और वह ग्राम, जहां के निवासी श्रीकृष्ण की रूप-छवि के रस का पान किया करते हैं। उस ग्राम की वृक्ष-लताएँ, धूलि, कण-कण, अणु-अणु सब ही हमारे पूजा के पात्र हैं। देवताओं के स्वर में हमारा हृदय भी यह कह उठता है—

"हम न भई वृन्दावन रेनु।
जिन चरणन डोलत नंद-नंदन नित प्रति चारत धेनु॥
हमते धन्य परम ए द्रुम वन बालक बच्छ अरु धेनु।
सूर सकल खेलत हंस बोलत ग्वालन सग मथि पीवत फेनु॥"

एक दिन श्याम दूध दुह रहे थे कि राधा आई। कृष्ण ने जब राधा को देखा तो उन्हें प्रेमाधिक्य के कारण सात्विक भाव हो आया। चुहलबाजी तो तरह-तरह की नित्य-प्रति हुआ करती थी। कृष्ण सदा ऐसे मौकों की तलाश में रहते। फिर मित्र-मित्र व सहेली-सहेली के खीझाने में भी आनन्द आता है। बस, कृष्ण ने भी राधा के कहने से राधा की गायें तो दुह दीं, पर दोहनी के लिये अब उसे चिढ़ा रहे हैं। बार-बार राधा हाथ-पांव जोड़ती है, "हा-हा" करती है। राधा की 'हा-हा' में भी कृष्ण को हर्ष होता है। हंस पड़ते हैं और कहते हैं अच्छा एक बार और "हा-हा" कह दो तो दे दूंगा। राधा को मानना ही पड़ा। बिना दिल के उसे "हा-हा" कहना ही पड़ा। बस कृष्ण की मुराद पूरी हुई। उन्होंने उसे दोहनी दे दी।

राधा की यह दशा हो गई कि—

"यह पुनि कै चकृत भई प्यारी धरणि परी मुरझाई।
सूरदास तब सखियन उर भरि लीनी कुँवरि उठाई॥"

"डसीगे माई स्याम भुजंगम कारे।
मोहन मुख मुसकानि मनहु विष जात मरे सो मारे॥
फुरै न मन्त्र-यन्त्र दइ नाहीं चलै गुणी गुण डारे।
प्रेम प्रीति विष हिरदै लागी डारत है तनु जारे॥
निर्विष होत नहीं कैसेहू करि बहुत गुणी पच हारे:
सूरस्याम गारुडी बिना को सो शिर गाडू टारे॥"

ऐसे-वैसे सर्प ने नहीं डसा है, भुजंग ने डसा है। उस पर भी काले भुजंग ने। भला काले भुजग का विष कैसे उतर सकता है? अच्छे-अच्छे जंत्री-मंत्री क्यों न आओ, उसका उपचार तो केवल एक है। वह नन्द सुत ही है जो उसे जीवित कर सकते हैं, अतएव माता भी क्या करे। जिस काले ने काटा है वही जिलायेगा। वही भुजंगम है और वही गारुड़ी।

चीरहरण के सूर ने दो प्रसंग कहे हैं। एक बार तो जब गोपियां नहा रही थीं, ये उनके वस्त्र लेकर वृक्ष पर चढ़ गये और उनको नग्न नहाते हुए देखने लगे। गोपियों ने अपने चीर मांगे पर उन्होंने तब तक नहीं दिये जब तक कि वे नग्न होकर बाहर न निकलीं। इसी प्रकार एक बार यमुना किनारे से उनके चीर लेकर भागे और उनके चिल्लाने पर लोगों ने सुना तब यह छोडकर कर भागे। ये वर्णन अत्यन्त अश्लील हैं। पर सूर बार-बार कृष्ण को भगवान भी गोपियों द्वारा कहलाते गये हैं। साथ ही साथ यह भी कहलाते गये हैं कि ये भगवान हैं, इनसे कुछ छिपा नहीं है और पूर्व भव में तो गोपियों ने ऐसा ही वरदान मांगा था। ये वर्णन अश्लील अवश्य हैं; किन्तु मनुष्य जब तल्लीन होकर गोपियों और कृष्ण के सम्बन्ध में जीवात्मा और परमात्मा का सम्बन्ध

देखता है, वहाँ वासना का आभास तक नहीं दिखाई देता। अश्लील और अरुचिकर यह केवल इसी आधार पर कहा जा सकता है कि उसमें सर्वसाधारण जनता में जो तल्लीनता को प्राप्त नहीं हो सकती है, कुरुचि एवं कुत्सित वासना के भाव जाग्रत हो सकते हैं। यहाँ केवल इन प्रसंगों को काव्यानन्द की ही दृष्टि से पढ़ना चाहिये। सदैव यह ध्यान बनाये रखना चाहिये कि सूर महात्मा थे और इन पदों में भक्ति-भाव कूट-कूट कर भरा हुआ है। जहाँ भक्ति-भाव एवं तन्मयता होगी, वहाँ कुत्सित भावना कभी अपना स्थान ग्रहण नहीं कर सकती।

इसके अनन्तर पनघट का किस्सा प्रारम्भ होता है। यह भी अश्लीलता से खाली नहीं, पर बड़ा मनोरंजक है। श्याम की धृष्टता उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। व्रजनारियां खीझती हैं, तंग हो जाती हैं पर उन्हें बुरा नहीं लगता। कभी-कभी मिथ्या ही या लोक-लाज-वश वे माता यशोदा को उलाहना देने अवश्य पहुँच जाती हैं, पर उनके हृदय में उलाहना देने की अभिलाषा नहीं। प्रत्युत एक बार और कृष्ण से भेंट और दर्शन होने की तीव्र उत्कंठा रहती है। श्याम का तो यह दैनिक कार्य ही हो गया है कि पनघट पर जाना और आते-जाते छेड़-छाड़ करना। किसी की गगरी फोड़ देना तो किसी के पांव में कंकरी मारकर उसे लँगड़ा कर देना। किसी का मार्ग रोककर खड़े हो जाना। जब कोई शिकायत करने यशोदा के पास जाये और वे इनको डांटे तो उनका बड़ा साधु बन जाना और कह देना कि माता ये ही तो मुझे तंग करती हैं और मुझसे गागरी उठवाती हैं और तू मुझे मारती है और गाली देती है।

इसके पश्चात गोवर्धन पर्वत उठाने एवं इन्द्र-अभिमानहरण के विषय में सूर ने लिखा है। नन्द वरुण को ले गये हैं। फिर दानलीला का वर्णन है। दानलीला भी अश्लील है। कृष्ण गोपियों से गोरस(इंद्रिय-

कृष्ण) का ही दान मांगते हैं। इन शब्दों में श्लेष होने के कारण उनका दान मांगना भी अच्छा मालूम पड़ता है। एक गोपी से कृष्ण गोरस मांग रहे हैं। बेचारी वन में से अकेली जा रही थी। तग आ गई। वही कृष्ण से प्रार्थना कर रही है। उसकी विवशता में, उसके भोलेपन में भी चित्त आकर्षित हो जाता है; पर कृष्ण डटे हुए हैं। वह कृष्ण को समझा रही है—

"ऐसो दान न मौंगिये जो हम पै दियो न जाइ।"

इस तरह विचित्र विचित्र ढंग से खोज-खोजकर नवीन-नवीन दान नित्य प्रति कृष्ण गोपियों से मांगा करते हैं। श्याम-गो-रस-दान मांग रहे थे। सखी इन्हें दान देना अस्वीकार कर रही थी। नौबत यहां तक आ पहुंची कि दोनों में छीना-झपटी होने लगी। छीना-झपटी में श्याम का पीताम्बर उसकी छाती से उलझ गया। बस फिर क्या था।

"प्यारी पीताम्बर उर झटक्यो।
हरि तोरी मोतिन की माला कछु गर कछु कर लटक्यो॥
ढीठो करत श्याम तुम लागे जाइ गही कटि फेंट।
आपु श्याम रिस करि अंकम भरि भई प्रेम की भेंट॥
युवतिन घेरि लियो हरि को तब भरि-भरि धरि अंकवारि।
सखा परस्पर देखत ठाढ़े हँसत देत किलकारि॥

औरों से दधि दूध मौंगते-मांगते तो हरि अब थक से गये मालूम पड़ते हैं, तभी तो राधा के पास पहुँचे और कहने लगे कि कई मटकियों का तो खूब माखन उड़ाया अब तुम्हारी मटकी का तो बताओ कैसा लगता है। राधा तो यह देख ही रही थी कि मुझसे कब मांगें। उसका भी मनोरथ पूर्ण हुआ। चट से दौड़ी और अच्छा ताजा मक्खन ले आई। कृष्ण ने राधा का दही भी खाया। राधा का दधि-माखन कृष्ण को सबसे अच्छा लगा—

"लै दीन्हों अपने कर हरि मुख खात अल्प हँसि हँसो ॥
सब दिन से मीठो दधि है यह मधुरे कह्यो सुनाइ ।
सूरदास प्रभु सुख उपजायो ब्रज ललना मन भाइ ॥

कारी, धोरी हर प्रकार की गाय का रस ये ले चुके हैं, किन्तु उसका उद्देश्य बस यही है—

"गोपिन हेतु माखन खात ।
प्रेम के वश नंदनन्दन नेक नही अघात ॥"

गोपियों को जब वहुत तग कर चुके, उन्हें प्रेम मे आह्लादित कर चुके, तब वे अन्त में अपना अवतार लेने का उद्देश्य प्रकट कर देते हैं । कह देते हैं कि तुम्हारे कारण ही तो मै वैकुंठ त्याग कर यहाँ आया हूँ । तुम्हारा दान मैं ले चुका । तुम्हारी प्रेम-परीक्षा हो चुकी । अब तुम घर जाओ । निम्न लिखित पद से यही बात प्रकट होती है । इससे यह भी प्रकट होता है कि तुलसी के समान सूर भी यह नहीं भूलते हैं कि उनका सखा कृष्ण भी अवतार है । कई प्रसंगों मे इस कथन की पुष्टि होती है ।

"सुनहु बात युवती इक मोरी ।
तुमते दूर होत नहीं कतहूँ तुम राखो मोहि घेरी ॥
तुम कारण वैकुंठ तजत हों जनम लेत ब्रज आई ।"

इधर यह प्रेम-कथा परिपूर्ण हो ही नहीं पाई थी कि कृष्ण ने कंस-वध आदि कार्यों के लिए मथुरा जाने का प्रसंग छेड़ दिया । उनका कहना तो दूर रहा यहां ब्रजबालाओं के होश-हवास ही गायब हो रहे हैं । देखते-देखते इतने थोड़े समय ही में उनका इतना प्रेम हो गया है कि वे चलने का समाचार सुन इतनी विह्वल हो गई कि बेसुध यहाँ-वहाँ घूमने लगी हैं । दधि-दूध बेचने को निकलती हैं, पर रीती मटकी लेकर ही चल देती हैं । यदि भाग्यवशात भरी मटकी घर

से ले चली और कोई बुलाता हो तो भी उनके श्रवण में तो कृष्ण प्रेम-रस-नाद ऐसा गूंज रहा है कि उन्हें और कुछ सुनाई ही नहीं देता है। कोई चुनाता है, बुलाता रहे, कुछ चिन्ता नही। सीता-हरण के पश्चात तुलसी के राम के समान चेतना-शून्य-सी हो द्रुम-लताओं को ही दही, दूध, माखन बेचती फिरती हैं। जहां बैठ रहीं वहीं बैठी रह गईं। 'हजरते दाग जहां बैठ गये बैठ गये।' चल रही हैं तो चल ही रही हैं। जिस गली में से निकलती हैं उसी में से बार-बार आने-जाने लगती हैं। जब कहीं सुध आती है तो समय बेसमय घर पर पहुँचती हैं। घर पर खूब ताड़ना होती है, वह भी सहती हैं, सुनती हैं। लोक-लाज का तो डर ही निकल गया है। कोई कुछ भी कहे। प्रेम-रंग में सब बातें ऐसी अन्तर्हित हो गई हैं कि कोई दूसरी बात, कोई दूसरा रंग ही नहीं दिखाई देता है। इन विरह से व्याकुल ब्रज-वनिताओं की वियोग-दशा का कुछ आभास इस पद से प्रकट होता है —

> "गोरस लेहु री कोउ आइ।
> द्रुमन सों यह कहति डोलति कौन लेइ बुलाइ॥
> कबहुँ यमुना-तीर को सब जात हैं अकुलाइ।
> कबहुँ वंसीवट निकट जुरि होत ठाढ़ी धाइ॥
> लेहु गोरस दान मोहन कहां रहे छिपाइ।'

कहां तो पहिले श्याम को उलाहना दिया जाता था। दान मांगने पर हठ प्रकट की जाती थी। दही-दूध छुड़ाने पर, मटकी फोड़ने पर क्षणिक बाह्य क्रोध प्रकट किया जाता था। कहां अब श्याम को दान देने बुला रही हैं। आज तो वे उन सब बुराइयों को सहने के लिए भी उद्यत हैं। कोई उनसे कुछ न कहो, माता पिता चाहे रुष्ट हों कुछ चिन्ता नहीं। लोग यदि उपहास करें, तो करने दो, श्याम का प्रेम तो छुटाये से नहीं छूटता। परलोक भी नष्ट हो जाय तो परवाह नहीं।

बस, इसी दशा का वर्णन एक सखी निम्नलिखित दो अंशों में कर रही है जिसमें उनकी वियोग-दशा की परम चिन्ता का अनुमान हम कर सकते हैं—

> "नन्दलाल ने मेरो मन मान्यो कहा करेगो कोई रे ।
> मैं तो चरण कमल लपटानी जो भावे सो होई री ॥
> बाप रिसाइ माइ घर मारे हँसै बिरानो लोग री ॥"

कारण यह कि उपहास से यदि डरें तो कैसे बन सकता है क्योंकि—

> "कैसे रह्यो परै री सजनी एक गांव को वास ।
> श्याम मिलन की प्रीति सखी री जानत सूरजदास ॥"

इसलिए बस अब तो यह ध्रुव निश्चय कर लिया है कि—

> "सब या ब्रज के लोग चिकनियां भेटें भाये पास ।
> अब तो यही बसी री माई नहि मानौंगी त्रास ॥"

इस विरह-वर्णन के पश्चात् सूर फिर कृष्ण राधा का रूप वर्णन, कहीं नखशिख-वर्णन करने लग जाते हैं। सूरसागर में यद्यपि कथा का क्रम है, किन्तु वर्णन का क्रम नहीं है। इसीलिए पुनः-पुनः उसी प्रकार के पद मिलते हैं, किन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उनमें पुनरावृत्ति है अथवा वे अरोचक हो गये हैं। रोचकता, सुन्दरता, पदमाधुरी, भाव-प्रवणता उसमें उसी प्रकार से बनी रहती है। देखिये इस भाव के पद वे पहिले भी कह चुके हैं। उसी भाव को उन्होंने फिर उठाया है। पर उसमें वर्णन-शैली की मोहकता के कारण कुछ भी अरोचकता नहीं है।

> "माखन की चोरी तें सीखे करन लगे अब चितहुं की चोरी ।
> जाके दृष्टि परे नंद-नंदन सोउ फिरत मोहन डोरी-डोरी ॥"

ऐसा क्यों होता है इसका उत्तर भी सूर बड़ी खूबी के साथ

देते हैं—

"ज्यौं सुरभाऊ गी नन्दलाल सों अटकि रह्यो मन मेरो।"

चोर जब चुरा ले जाता है तब यही अभिलाषा रहती है कि उससे चोरी का माल लौटा लिया जाय। पर हृदय या हृदय-सर्वस्व वस्तु ले जाय तब तो उसके लिए कठोर दंड की व्यवस्था होनी चाहिये। चित चोर श्याम को भी एक ब्रजबाला कितने चित्ताकर्षक ढंग से पकड़ रखने के लिए कहती है—

"चित को चोर अबहि जो पाऊँ।
हृदय कपाट लगाइ जतन करि अपने मनहिं मनाऊँ॥
जबहि निशंक होत गुरुजन ते तेहि औसर जो आयँ।
भुजनि धरौ करि सुदृढ़ मनोहर बहुत दिनन को फल पायँ॥
लै राखौं कुच बीच चापि करि प्रतिदिन को तन ताप बिसारौं।
सूरदास नंद-नन्दन को गृह-गृह को डोलनि को श्रम टारौं॥"

परोक्ष रूप से कैसी सुन्दर उक्ति यह गोपिका कह गई है? यह अपने चित्त का चोर ढूंढ रही थी। आखिरकार ढूंढते-ढूंढते उसने चोर को पकड़ ही लिया। चित-चोरी जब मिल गया तब उसे पकड़कर क्या कोई छोड़ देता है? वह चोर ही नहीं था, सिरजोर था। वह चोर ऐसा चोर नहीं था जो कठिनाई से मिले। समस्त ब्रज की गलियों में चोरी करके ढीठ बना फिरता था। ब्रजबाला ने उसे जोर से पकड़ लिया और उससे कहने लगी—लला, अब बचकर कहां जाओगे? अब तो तुम्हें मेरा चित्त, जिसे तुमने चुरा लिया था देना ही पड़ेगा। अब तुम नहीं छूट सकते। चाहे तो सीधे दे दो, चाहे टेढ़े। तुम्हें चाहे सुख हो, चाहे दुःख हो। अब मैं न मानूंगी। पर चोर ने चोरी कर ली थी और वह ऐसा धृष्ट था कि सीधे से बात ही नहीं करता था। इसी लिए उसे इतना सुनना पड़ा। वह कहती है तुम्हारा और किसी से

पहिले काम पड़ा होगा। आज तो मुझसे काम पड़ा है—

मैं तुमरे गुण जानत स्याम।
औरन को मनचोर रहे हो मेरो मन चोरे किहिं काम॥
वे हरपति तुमको धों काहे मोको जानत ऐसी बाम।
मैं तुमको अबही बाँधोगी मोहिं बूझि तब नाम॥"

ठीक है। भला वह कब दया करे। जिसका चित्त स्याम ने कठोरता से चुरा लिया और धृष्टता यह कि व फिर देना ही नहीं चाहते। चोरी से ही मुकरे। इसीलिये जब उस ब्रजबाला के फंदे में पड़ गये तो उसने छोड़ना ही न चाहा। उसे तो ऐसा मनोहर क्रोध आ रहा था कि यदि और कोई उसके बीच में बाधा देता तो वह उसकी भी खबर लिये बिना न छोड़ती। कुल-कानि के बीच ही में आकर कृष्ण को छुड़ाने का उपाय करने लगी। पर आज तो वह अपनी परम प्रिय सखी का कहना भी नहीं मानेगी। यदि उसने अधिक प्रयत्न किया तो उससे झगड़ा तक कर लेगी। और यही तो वह अपनी सखी कुलकानि से कहती है—

"सुन री कुल की कानि लाजन सो मैं झगरो मांडोंगी।
मेरे इनके कोउ बीच परो जिनि अधर दशन खाड़ोंगी॥
चतुर नाइक सों काम पर्‌यो है कैसे ह्वै छाड़ोंगी।"

राधा तो उनको परम प्रिय थी ही। एक दिन उसका अंक भरना राधा की सखियों ने देख लिया। वे पूछने लगीं। राधिका चतुरता से उत्तर देकर उन्हें बहका देती है। उनसे वह कहती है मैं तो तुम्हारा मार्ग देख रही थी। मेरा ध्यान तो तुम लोगों की ओर था। मैं क्या जानूं कि उस ओर से मनमोहन आ रहे हैं? वे तिरछे-तिरछे आकर मेरे पास से निकल गये। घर देर से पहुंची, क्योंकि मार्ग में यही सोचती जा रही थी कि अब कृष्ण से किस प्रकार भेंट हो। सोचते

दिखाने उसने एक अच्छा उपाय सोच ही लिया। अपना हार छिपाकर रख लिया। जब घर पहुँची तो माता ने हार उसके गले में नहीं देखा। देर से पहुँचने के लिये तो वह क्रुद्ध हो ही रही थी, अब हार न देखकर तो आगबबूला हो गई और राधिका को तरह-तरह से ताड़ना देने लगी। कहने लगी कि तुझे आज से आभूषण पहिनने को नहीं मिलेंगे। बता तू कहां गिरा आई? राधा ने कहा—मुझे मालूम नहीं वह यमुना में गिर गया या किसी सखी ने उतार लिया। सखी का नाम लेते ही मा के मुंह से निकल गयो-- जा, जहां से मिले वहां से ढूंढकर ला, नहीं तो तुझे घर में नहीं आने दूंगी। राधा तो यह चाहती ही थी। राधा चली हार लेने और पहुँची नंद के यहां और लगी 'ललिता' 'ललिता' पुकारने। कृष्ण उस समय भोजन कर रहे थे। समझ गये मेरे कथनानुसार राधा आ गई है। झट से भोजन छोड़ा और यह बहाना करके निकले कि कोई गाय वन में 'ब्या' रही है और मेरे सखा वहीं जा रहे हैं। कृष्ण भाग खड़े हुए और राधिका से मिल अपना मनोरथ सिद्ध किया। उसके पश्चात् जब राधिका वापिस लौटी तो रास्ते में हार अपनी साड़ी में से निकाल लिया और जाकर माता को दे दिया।

संयोग शृंगार के इस प्रकार के कई स्थल सूर सागर में हैं। एक दिन राधा को कुछ गर्व हो आया इसलिये कृष्ण उसके द्वार पर से निकलकर चले गये। ज्योंही राधा को यह बात विदित हुई, त्योंही वह द्वार पर आई और श्याम के न मिलने से पश्चात्ताप करने लगी। उसे बड़ा दुःख हुआ। वह कहती है और पूछ जाती है कि आज मैंने कहां से गर्व कर लिया। इसी प्रकार एक दिन राधा दर्पण में अपनी सुन्दरता देख रही थी। कृष्ण भी वहीं आकर खड़े हो गये। एक बार उन्होंने उसकी आंखें मूंद लीं।

श्याम मुरली बजाने में चतुर थे ही, उनकी मुरली ने ब्रज-

वासियों पर जादू ही कर दिया। कृष्ण का दैनिक-कार्य वन-वन में वंशी बजाकर व्रजनारियों को विमुग्ध करना था। राधिका भी उनकी व्रज-माधुरी पर मुग्ध हैं। एक दिन तो राधिका स्वयं बांसुरी सीखने के लिए हठ करने लगी। बोली—श्याम जिस प्रकार से होगा तुम्हें प्रसन्न करूंगी, पर आज तो तुमसे बांसुरी ले ही लूंगी। श्याम नहीं देने लगे राधिका के हठाग्रह में श्याम का मनोरंजन था, पर राधिका भी वंशी लेने पर तुली हुई थीं।

"मुरली लई कर ते छीनि।
ता समय छवि कहि जाति न चतुर नारि नवीनि॥
कहत पुनि-पुनि श्याम आगे मोहि देउ सिखाइ॥
मुरली पर मुख जोरि दोऊ अरस-परस वजाइ॥"

उनका वनोपवनों में सखियों समेत कौतुक-क्रीड़ा करना भी कितना सरस, भावुकता-पुर्ण और आनंदातिरेक का चिन्ह है। कभी कृष्ण राधिका की आंखें पीछे से आकर बन्द कर लेते हैं, कभी किसी दूसरी सखी की। कभी ललिता के गृह पर जाकर उसे विमोहित करते हैं तो कभी किसी दूसरी के यहां। सखियों के नेत्रों ने भी बड़ा धोखा उनके हृदय के साथ किया है; जब सखी-सखी मिलती हैं तो सिवाय श्याम के आकर्षण-सम्मोहन के अन्य और कोई प्रसंग ही नहीं चलता।

कोई कहती है—
"सजनी नैननि का काज कियो।
आपुन जाई भेद करि हमसों इन्द्रिह बोलि लियो॥"
कोई कहती है—
"मेरे जिय इहई सोच परयो।

मन ने ढंग कुठौरी सजनी जैसे मोहि निदरयो ॥
आपुन गयो पंच संग लीन्हें प्रथमहि उहँ करयो ।
सोसो बैर प्रीति करि हरि सों ऐसी करनि करयो ॥"

यह तो मन की गति हुई, अब नेत्रों का हाल सुनिये । एक दूसरी सखी क्या कहती है—

"मन के भेद नैन गये भाई ।
लुब्धे जाइ स्यामसुन्दर रस करी न कछू भलाई ॥
जबहि स्याम अचानक आये इकटक रहे लुभाई ।
लोक सकुच मर्यादा कुल की छिनही में बिसराई ॥"

(वास्तव में ये पद भी अपने विषय के वर्णन में अनुपम हैं। इनके पढ़ने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहां सूर भावुकता के आवेश में श्लील से अश्लील पद लिख गये हैं, वहां वियोग-वर्णन भी उनका अनोखा ही है।

सूर के भ्रमर गीत

संयोग-शृंगार के समान विप्रलंभ-शृंगार भी उनका अद्वितीय है। सूर ने यदि केवल संयोग-शृंगार ही लिखा होता, तो वे अवश्य अश्लीलता-दोष के भागी होते। किन्तु जितना सजीव उनका संयोग शृंगार है, उससे कहीं अधिक मार्मिक विप्रलंभ। सूर की अंतःसूक्ष्मवृत्तियां वियोग का भी उतना ही हृदय स्पर्शी चित्र खींचती हैं। उनमें तरह-तरह के रंग भर कर उसे चरम कोटि पर पहुँचा देती हैं। इससे केवल यही प्रकट नहीं होता है कि व्रजबालाओं, एवं यशोदा व नंद आदि का उन पर क्षणिक स्वार्थमय अथवा आनन्द-उपभोगकारी प्रेम ही था; किन्तु उस प्रेमकी पराकाष्ठा हमें वियोग-जन्य अवस्था में ही विशेष रूप से देखने को मिलती है। वियोग-वह्नि में वह प्रेम और भी निखर आया है। स्पष्ट, व्यापक तल्लीनता एवं अनन्यतामय भी हो उठा है।) इसकी कथा इस प्रकार है, कि अक्रूरजी यह जानकर कि कंस-वधका समय निकट आ रहा है,

कृष्ण को मथुरा ले जाने के लिए गोकुल में आते हैं। नियति-वश कृष्ण वहां जाने के लिये प्रस्तुत होते हैं, पर ब्रजवासियों का ऐसा प्रेम है कि अक्रूर भी इस दुविधा में पड़ जाते हैं कि कृष्ण को ले जायें या नहीं। अंत में उन्हें ले जाते हैं। उधर समस्त ब्रज वियोग-वह्नि में ग्रस्त होने लगता है। यशोदा माता के दुःख का पार नहीं। वे नँद से आग्रह कर उन्हें मथुरा भेजती हैं। नंद कृष्ण को देख अवश्य आते हैं, पर वे वहां उन्हें राज कार्यों में इतना निमग्न पाते हैं कि उन्हें लाने का साहस नहीं होता। जब तक वे वापिस नहीं लौटे तब तक तो यशोदा एवं अन्य ब्रजवासी बेहाल थे, पर लौट आने पर कुछ पार ही नहीं। किसी प्रकार थोड़ा भी धैर्य जो वे अपने हृदय-स्थल में छिपाये थे, अब नहीं रहा। हृदय का बांध एकदम टूट गया। वे इतने विह्वल हो गये कि अपना-विराना छोड़ बस एक कृष्ण का ध्यान ही उन्हें बना रहने लगा। उनकी वियोग-जन्य दशा का वर्णन करना शक्ति के बाहर की बात है। इसका समाचार कृष्ण को मिलता रहता है। उन्हें ब्रजवासियों से प्रेम भी है। उनके वियोग का दुःख भी है, पर वे कठोर कर्त्तव्य और राजनीति की बेड़ियां पहिने विवश हैं।

यह बात नहीं है कि श्रीकृष्ण को अपने प्यारे गोकुल अपनी प्यारी मा, बाबा, राधिका तथा अन्य ब्रजबालाओं का ध्यान न हो। जब कभी राज्य-कार्यों से निवृत्त होते, तभी गोकुल उनका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लेता। मथुरा में राज्य-वैभव का अभाव नहीं है; किन्तु गोकुल की रज-रज का स्मरण उन्हें बना हुआ है। कभी-कभी तो वे सोचने लगते हैं कि नन्द बाबा अवश्य ही कठोरहृदय हो गये हैं, तभी तो उन्होंने अभी तक सुधि न ली। मा यशोदा ने भी उन्हें स्मरण नहीं दिलाया। कभी सोचते, राधिका के हृदय पर क्या बीतती होगी ? ब्रजयुवतियां किस दाह में जल रही होंगी। ऐसे ही समय उद्धव महाराज आ पहुँचे। उनसे

रूप में संदेशा पहुँचाने के लिए चर्चा चलाई। मित्र को मानना ही पड़ा। उनसे कहते-कहते ही गोकुल का स्मरण फिर हो आया। धोरी धूमरी गायों की याद आ गई। उद्धव ज्ञान के ही चक्कर में फँसे थे। कृष्ण उसी दलदल में से निकालने के लिए समाचार भेजते हैं। इस वर्णन में कितनी स्वभाविकता है? कितनी तल्लीनता; कितना प्रेम, कितना चोज, कितना सूर का अवलोकन और अनुभूति है। सूर के ये बाल कृष्ण अब राजसिंहासन पर से भी वही बाल-हृदय, बाल-मनोभाव रखते हैं और कहते हैं—

"आवेंगे दिन चारि-पांच में हम हलधर दोउ भैया।
जा दिन तें हम तुम तें बिछुरे काहु न कह्यो कन्हैया॥
कबहू प्रात न कियो कलेवा सांझ न पीन्ही छैया।
बंसी बेनु संभारि राखियो और अबेर सबेरो।
मति लै जाय चुराय राधिका कछुक खिलौना मेरो।
कहियो जाय नन्द बाबा सों निपट निठुर जिय कीन्हों।
सूर स्याम पहुँचाय "मधुपुरी" बहुरि संदेश न लीन्हों।"

उद्धव महाराज अपनी निर्गुण ज्ञान की गठरी सिर पर धारण कर चले और गोकुल पहुँचे। विरह-विधुरा व्रजबालाओं ने महाराज को दूर से ही देख लिया। एक क्षण तो श्याम की श्यामता का आभास हुआ, पर वे सुखाभास के निर्जल मेघ बिजली की चमक ही में विलीन हो गये और जलद पटल की ओर से उसी रंग-रूपवाले वैसी उनहारवाले, वैसी ही बोलनिवाले उपंग सुत दिखाई दिये। बस लता पर पाला पड़ गया। गोपियाँ उद्धवजी को आते हुए देख बात-चीत करती हैं—

"कोउ आवत है घनश्याम।
वैसेइ पट वैसिय रथ बैठनि, वैसिय है उर दाम॥

ऐसी सुनि उठि तैसिय दौरी छाड़ि सकल गृह-काम ।
रोम पुलक, गद-गद भई तिहि छन सोचि अंग अभिराम ।
इतनी कहत आय गये ऊधो रही ठगी तिहि ठाम ।
सूरदास प्रभु ह्याँ क्यों आये बँधे कुबजा रस स्याम ।"

अंतिम पंक्ति में स्त्री-हृदय की कितनी मंजुल व्यञ्जना, कितना तीखा व्यंग, कितनी मार्मिकता एवं हृदय की जलन छिपी हुई है ।

इतने में वे सब युवतियाँ क्या देखती हैं श्रीकृष्ण-सखा ने, जैसा उन्हें पीछे ज्ञात हुआ, नन्द के द्वार पर रथ ठहरा दिया । यहीं ग्राम्य जीवन का चित्र खिंच जाता है । सब व्रजवधुएँ गृह-कार्य छोड़कर आ पहुँचीं । गोकुल में ये अतिथि तो थे ही, कोई इनका स्वागत करने लगी, कोई आरती उतारने लगी इत्यादि भिन्न-भिन्न क्रियाएँ करने लगीं । यह सब हो ही रहा था कि इन्होंने आव देखा न ताव और लगे अपनी निर्गुण की गठरी खोलने और भगवान के सगुण रूप का रस चाखने वाली भोली-भाली गोपियों को ज्ञान का उपदेश झाड़ने । वह परमात्मा तो निर्गुण है , निराकार है, उसके आंख, कान, नाक कुछ भी नहीं है । वह अनादि, अखण्ड, अलख है । वही सर्व-शक्तिमान है, हृदय के ज्ञान द्वारा उसकी प्राप्ति होती है । अतएव तुम कृष्ण का, व्रजबालाओं के प्यारे कुँवर कन्हैया का ध्यान छोड़ दो । पर आप सोच सकते हैं जो साक्षात कुँवर कन्हैया को इहलौकिक लोचनों से निहार चुकी थीं, जिनकी पुतलियों को अपने हृदय में बैठा चुकी थीं, भला उसे वे कैसे निकाल सकती थीं । हाथ का रत्न त्याग किस कांच की आश उन्हें दिलाई जा सकती थी । अतएव मधुर शब्दों में झट प्रत्युत्तर भी दे दिया—

"गोकुल सबै गोपाल उपासी ।
जोग —— साधन जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी ॥

यद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहती चरननि रसरासी
अपनी सीतलताहि न छांड़त यद्यपि है ससि राहु गरासी ॥
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम भजन तजि करत उदासी ॥
सूरदास ऐसी को विरहिन मांगति मुक्ति तेजगुणरासी ?

और तर्क के लिए मान भी लिया जाय कि निर्गुण ब्रह्म का आराधन, योग-साधन उत्तम है, किन्तु हमारे मन में यह एक भी नहीं बैठती। आज से हमारा प्रेम हो सो बात नहीं है। यौवन-समय की प्रीति में उन्माद रहता है, उस समय स्वार्थ-भावना का भी अंश किसी न किसी रूप में सन्निहित रहता है, पर जो प्रीति लंगोटिया यारों में होती है, वह श्मशान भूमि तक स्थायी रहती है। श्याम की प्रीति का अंकुर बाल्यावस्था में ही उत्पन्न हो गया था, तभी तो गोपियां कहती हैं—

"लरिकाई को प्रेम, कहो अलि कैसे करिकै छूटत।
कहा कहौं ब्रजनाथ चरित अब अन्तर गतियां लूटत ॥"

जो आंखें हरि दर्शन की भूखी हैं, उन्हें शुष्क ज्ञान का उपदेश कैसे सुहा सकता है। इसीलिए बेचारी अबलाओं के खिन्न हृदय में ये बातें और भी घाव पर नमक छिड़कनेवाली हो जाती हैं। वे कहती हैं—

"अंखियां हरि-दर्शन की भूखी।
कैसे रहें रूप रस राची ये बतियां सुनि रूखी ॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहिं झूखीं।
अब इन जोग सदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखीं ॥"

(प्रेम भी एक धुन है, राग है, तल्लीनता है और एक अलौकिकता है। इसका मधुर रस एक बार जिसने आचमन कर लिया, वह इसकी माधुरी पर इतना मुग्ध हो जाता है कि उसे अन्य सब वस्तुएं

सुनत ही जोग लगत ऐसो अति ज्यों करुई ककरी ॥
सोई व्याधि हमें ले आये देखी सुनी न करी ।
(अतएव) देखो बहु तो सूर तिन्हें ले दीजै जिनके मन चकरी ॥"

सब गोपियां विरह में डूबी हुई हैं, पर जब वियोग - दुख बढ़कर चरम सीमा पर पहुँच जाता है या कोई भी दु:ख जब अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है, तब वह दुःख ही नहीं रहता है। कभी-कभी तो न दुःख ही रहता है और न दुःखी ही रह जाता है।'दर्द का हद से गुजर जाना है दवा हो जाना।' इसी दुःख से परे अवस्था में व्रजवनिताओं को भी कभी-कभी सुखाभास की झलक दिख जाती है। उसी के शरीर में उन्हें विनोद सूझ जाता है; वे उद्धव को मूर्ख बना देती हैं और कुछ प्रश्न पूछने लगती हैं—

"निर्गुन कौन देश को वासी !
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दे बूझति साँच न हांसी ।
को है जनक जननि को कहियत, कौन नारि को दासी ।
कैसो बरन भेष है कैसो वहि रस में अभिलासी ॥"

इतना कहते-कहते ही उन्हें अपनी सुधि आ जाती है, वे प्रकृत बात पर आ जाती हैं और कह उठती हैं—

"पावैगो पुनि कियो आपनो जोरे कहैगो गांसी ।"

इस हृदयाग्नि का प्रभाव भी ऊधो पर खूब पड़ता है और उसकी दशा यह हो जाती है—"सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो सूर सबै मति नासी ।'

उन्हें कुछ और विनोद सूझता है और वे इसका आनन्द स्वयं ही नहीं उठाना चाहती, अपनी अन्य सखियों को भी चखाना चाहती हैं—

"खायबे को स्वाद जो पै और को कमाइये ।'

निकट खड़ी हुई अन्य सखियों से कोई एक कहती है। विनोद की मात्रा बढ़ाने के लिए कितना व्यंग है इस पद में। बहुधा स्त्रियाँ इसी प्रकार के व्यंगों में बातचीत किया करती हैं, कारण कि उनके मनोभावों को स्पष्ट करने में पुरुष ने उन्हें बेड़ियों में जकड़ दिया है और वे भी संकोच करने लगी हैं। इसी लिए उन अबलाओं का बल 'निर्बल का बल राम' हो गया है। इसी व्यंग में वे कहती हैं—

"देन आये ऊधो मत नीको।
आवहु री सब सुनहु सयानी लेहु न जस को टीको।
तजन कहत अम्बर आभूसन गेह नेह सबही को॥
सीस जटा सब अंग भस्म अति सिखवावत निर्गुन फीको॥
मेरे जान यहै जुवतिन को देत फिरत दुख पी को।
तेहि सर पंजर भये श्याम तन अब न गहत डर जी को॥
जाकी प्रकृति परी प्रानन सो सोच न पोच भली को।
जैसे सूर व्याल डसि भाजत का सुख परित अमी को॥

बेचारी अबलाएँ ठहरीं। मातृत्व का कितना ही भार ये वहन करने वाली हों, किन्तु पुरुषों के क्षणिक आवेशमय प्रेम के तीव्र स्रोत में शीघ्र ही बह जाती हैं। पुरुषों की बातों में आकर अपने जीवन को दुःखमय ही नहीं, नष्ट कर देना उनके लिए साधारण बात है। पुरुष कठोर हो जाता है, किन्तु कोमल भावों की रक्षिका देवियाँ कठोर होना नहीं जानतीं। कृष्ण-सदृश निर्मोही से प्रीति करके ही आज उन्हें यह कहना पड़ा। कितनी मर्म-भेदिनी वाणी और अवस्था है उनकी—

"निर्मोहिया सों प्रीति कीन्ही काहे न दुःख होय।
कपट करि-करि प्रीति कपटी लै गयो मन गोय॥

कालमुख तें काढ़ि आनी बहुरि दीनी ढोय।
मेरे जिय की सोई जानै जाहि बीती होय॥
सोच आखि में जीठ कीन्हीं निपट काँची पोय।
सूर गोपी मधुर आगे दरकि दीन्हों रोय॥"

इस निर्मोही श्याम से इतनी शोचनीय अवस्था होने पर भी, बिना उसके उनकी विचित्र गति है। उन्हें उस श्यामघन के बिना संसार फीका लगता है। कितनी अनन्य भक्ति उनमें ओत-प्रोत भरी हुई है, इस निम्नलिखित पद से विदित होता है। कृष्ण के संयोग में जो लतिकाएँ शीतल लगती थीं, आज उन्हीं के वियोग में वे ज्वाल-मालाओं-सी भयंकर और दाहक हैं। अब उन्हें न यमुना-नीर अच्छा लगता है न पक्षी का कलरव, न कमल-सौन्दर्य—

"बिन गोपाल बैरन भई कुंजें।
तब ये लता लगति अति शीतल, अब भई विषय ज्वाल की पुंजें॥
वृथा बहति जमुना खग बोलत, वृथा कमल फूलें अलि गुंजें।
पवन पानि घनसार संजीवनि दधि सुत किरन भानु भई भुंजें॥
ए ऊधो कहियो माधव सों विरह कदन करि मारत लुंजें।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भई बरन ज्यों गुंजें॥"

इस पर ऊधो ने बहुत समझाया कि देखो ऐसे निर्मोही की प्रीति को छोड़ दो। पहिले तो उनके उपदेश का कुछ प्रभाव ही न पड़ा पर उद्धव ने कहा—अच्छा तुम अपना हिताहित विचार कर उत्तर दो। भोली बालाओं ने सोचा कि क्षण भर सोचने में क्या हानि है। विचारा, अपने हृदय को टटोला। साहस करके देखा कि माखन-माधुरी का धृष्ट तस्कर हृदय-प्रदेश से बाहर निकलता है या नहीं, पर वह चोर भी साधारण चोर नहीं था। ज्यों-ज्यों वे उसे निकालने का प्रयत्न करना

चाहतीं, वह श्यामसुन्दर उलझीं हुई गुत्थियों के समान और उनके हृदय में उलझता जाता। इन भोली बालिकाओं के लिए वह ऊखल से बांधने वाला वीर पर्याप्त था। वह भी वहां जाकर सीधा नहीं तिरछा होकर अड़ गया था। सीधी वस्तु चट से निकल आ सकती है, पर तिरछी नहीं। अतएव जब उन्होंने हृदय को टटोला, तो देखा और बोलीं—

"उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो तिरछे है जु अड़े।

इतना कहने पर भी उद्धव न माने और हृदय को ही चूरकर उन्हें निकलवाने का प्रयत्न करने लगे। उन्होंने यह नहीं सोचा कि निर्गुण ब्रह्म तो है नहीं जो जैसे चाहे निकल जाय। यह तो सगुण ब्रह्म था, भौतिक शरीर के रूप में। अन्त में उन्हें खीझकर यह कह ही देना पड़ा।

"ऊधो तुम अपनो जतन करो।
हित की कहत कुहित की लागै किन वै काज ररौ॥
जाय करो उपचार आपनो हम जो कहत हैं जी की।
कछु कहत कछु वै कहि डारत, धुनि-देखियत नहिं नीको॥
साधु होय तेहि उत्तर दीजे, तुम सों मानी हारि।
याही तें तुम्हें नंदनंदन जू यहाँ पठाए टारि॥"

इधर से इतना तीव्र व्यंग्य कस रही हैं। उधर उनके निर्गुण ज्ञान की हठाग्रहिता पर हँसी भी आ जाती है। यह है भी स्वाभाविक। कभी-कभी जब हम दुःख में डूबे बैठे हों और कोई असमझ की बात विद्वत्ता प्रदर्शित करने के लिए कह दें, उस समय हँसी रोकना दुष्कर है। इससे भी यही ज्ञात होता है कि सूर का अधिकार ऐसे-ऐसे सूक्ष्म स्थलों पर भी उतना ही है, जितना अन्यों पर। गोपियाँ उद्धवजी से कहती हैं—

"ऊधो भली करी तुम आये।
ये बातें कहि-कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाये॥"

पुत्र कुपुत्र हो जाय, पर माता कुमाता नहीं होती। पुत्र कैसा ही कुरूप या बुरा भी क्यों न हो, माता के लिये वह प्रत्येक दशा में प्यारा और सुन्दर दिखाई देता है। माता की ममता तो गृहस्थ-जीवन में प्रत्येक समय देखी ही जाती है; किन्तु इसका चरम विकास उस समय होता है जब उसका लाड़ला, हृदय का टुकड़ा, उसका जीवन-धन, नेत्रों की ज्योति उससे विलग होकर अलग जा पड़ता है। इस समय वह उसके कल्पना-राज्य का, उसके हृदय की निधि का एकमात्र अधिकारी हो जाता है। माता को बार-बार यही ध्यान रहता है कि बाहर मेरे पुत्र को कितना कष्ट झेलना पड़ रहा होगा, वह क्या खाता-पीता होगा। भ्रमरगीतों में सूर का भी यह कितना मनोहर और हृदयवेदना से परिपूर्ण मार्मिक स्थल है। यशोदा उद्धव के द्वारा देवकी को सदेशा भेजती हैं—

"सँदेशो देवकी सों कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो
उबटन तेल और तातो जल देखत ही भग जाते।
जोइ-जोइ मांगत सोइ-सोइ देती करम-करम करि न्हाते॥
तुम तो टेव जानतहि ह्वैहो तऊ मोहि कहि आवे।
प्रात उठत मेरे लाड़ लड़ैतेहि माखन रोटी भावै॥
अब यह सूर मोहि निसिवासर बड़ो रहत जिय सोच।
अब मेरे अलक लड़ैते लालन ह्वै हैं करत संकोच॥"

यह दशा माता की उस समय है, जब कृष्ण उनके उदर से उत्पन्न हुए पुत्र नहीं हैं और मथुरा में राजसिंहासनासीन हैं, जहाँ उन्हें किसी

प्रकार के कष्ट होने की सम्भावना नहीं है; पर माता का हृदय होता ही ऐसा है। वह तो उसकी आँख से ओझल होते ही अपने पुत्र के कष्ट की कल्पना कर लेती है।

जिसके पास एक से अधिक वस्तुएँ हैं, वह उन्हें बांट सकता है। मन तो विधाता ने प्रत्येक प्राणी को एक ही दिया है-अतएव गोपियों की यह उक्ति सर्वथा न्याय-संगत, उचित, ग्राह्य और तर्क-पूर्ण है—

"ऊधो मन नाहीं दस बीस।

एक हुतो सो गयो हरि के संग को अराध तुव ईस।।"

एक मन की तो यह अवस्था थी, बेचारी अबलाओं को छोड़कर ही चला गया। वह चला गया तो चला गया, पर इन आंखों का बड़ा विश्वास था, सो इन्होंने भी धोखा दिया। अब इन पर क्यों विश्वास न रहा—

"बिछुरत श्री ब्रजराज आज सखि नैनन की परतीति गई।
उड़ि न मिलै हरि संग विहंगम ह्वै न गये घनश्याम मई।।"

वियोग की चरमावस्था में यह जंगम जीव जड़वत् हो जाता है। उसे कुछ ज्ञान नहीं रहता है। वह विह्वल और प्रलापी हो जाता है और जड़-जंगम पदार्थों में, मूक-अमूक प्राणियों में भी कुछ भेद नहीं रखता। तुलसी ने भी सीताहरण के पश्चात् राम की विह्वलावस्था में अचल पदार्थों एवं मूक प्राणियों से उनका संबोधन करवाया है। कालिदास ने भी मेघ द्वारा यक्ष का संदेश पहुँचाना दर्शाया है। सूर के भी निम्न-लिखित दो पद ब्रजवनिताओं की वियोग-जन्य विह्वलता एवं मिलन-व्यग्रता को भली भांति प्रदर्शित करते हैं, यह वियोग की अन्तिम अवस्था है। वे कोकिल से कहती हैं—

"कोकिल हरि को बोल सुनाव।
मधुबन तें उपटारि स्याम सों यहँ या ब्रज लै कै आव।।

दूसरा पद पपीहे के प्रति है—

"कराव रे, सारंग ! स्यामहि सुरत कराव ।
पौढ़े होहिं जहां नंदनंदन ऊँची टेर सुनाव ॥
गयो ग्रीषम पावस ऋतु आई, सब काहू चित चाव ।
तुम बिनु ब्रजवासी यों सोहत ज्यों करिया बिनु नाव ॥
तेरो कह्यो मानि है मोहन पाय लागि ले आव ।
अबकी बेर सूर के प्रभु को नैननि आनि दिखाव ॥"

विरह की इस विषय-वह्नि में, ब्रज की कोमलहृदया बालाएँ जल रही हैं, पर उन्हें अपनी जलन की चिन्ता नहीं है । उनके हृदय में स्वधन सहसा खो देने वाले प्राणी के समान, बार-बार यही बात खटकती है । सूर की यह खटकन कितनी हृदय-स्पर्शी और मानव-स्वभाव को दिखाने वाली है—

"स्याम को यहै परेखो आवै ।
कत वह प्रीत चरन जावक कृत अब कुब्जा मन भावै ।
तब कत पानि धरयो गोवर्द्धन, कत ब्रजपतिहि छुड़ावै ॥
कत वह बेनु अधर मोहन धरि, लै-लै नाम बुलावै ?
तब कत लाड़ लड़ाय लड़ैते, हँसि हँसि कण्ठ लगावै ?
अब वह रूप अनूप कृपा करि नयनन हून दिखावै ।
जा मुख संग समीप रैनि दिन सोई अब जोग सिखावै ।
जिन मुख देय अमृत रसना भी सो कैसे विष प्यावै ।
कर मीड़ति पछताति हियो भरि क्रम-क्रम मन समझावैं ।
सूरदास यहि भांति वियोगिनि तातें अति दुख पावै ॥"

यह पद दार्शनिकता से ओत-प्रोत है । इससे यह ज्ञात होता है कि सूर सगुणोपासक होते हुए भी निर्गुण स्वरूप के विरोधी नहीं थे । जब तक मनुष्य स्वयं अपने हृदय ही में भगवान को न खोजे, तब तक वह

सूर की दार्शनिकता

नहीं मिल सकता । वाह्य-रूप से कितना ही उसे खोजने का प्रयत्न करो वह नहीं मिलेगा । किन्तु जब अपने अंतर ही में वह अपने आप मिल जाता है, तब अनन्त आनन्द का स्रोत खुल जाता है । उच्च कोटि के साधु-महात्मा ही इस अवस्था पर पहुँचकर इस आनन्दानुभव को प्राप्त कर सकते हैं । संभव है कबीर के अनुकरण पर यह लिखा गया हो—

"अपुनपो आपुन ही में पायो ।
शब्दहि शब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो ॥
ज्यों कुरंग नाभी कस्तूरी ढूंढ़त फिरत भूलायो ।
फिर चेतो जब चेतन है करि आपुन ही तन छायो ॥
राजकुँआर कंठ मणि भूपण भ्रम भरयो कहूँ गँवायो ।
दियो बताई और सतजन तब मनु को पाप नशायो ॥
सपने माँही नारि को भ्रम भयो बालक कहूँ हिरायो ।
जागि लख्यो ज्यों को त्यों ही है नाकहुँ गयो न आयो ॥
सूरदास समुझै की यह गति मन ही मन मुसकायो ।
कहि न जाहि या सुख की महिमा ज्यों गूंगो गुर खायो ॥"

रामचन्द्रजी का संसार का भार उतारने के लिए जन्म हो चुका है । समस्त अयोध्या ही में नहीं वसुधा भर में, यहां तक कि त्रिभुवन में भी आनन्द ही आनन्द छा गया है । सब लोग जहाँ-तहाँ फूले-फूले फिर

सूर द्वारा श्रीराम का चित्रण

रहे हैं । किसी को किसी बात की सुध नहीं है । महाराज दशरथ भी याचकों को मन-मांगा द्रव्य लुटा रहे हैं । जिसने जो माँगा वह पाया है—

"आज दशरथ के आंगन भीर ।
आये भुव भार उतारन कारन प्रगटे श्याम शरीर ॥

फूले फिरत अयोध्यावासी गनत न त्यागत चीर।
परिरम्भण हँस देत परस्पर आनन्द नैनन नीर ॥"

अयोध्या में इस प्रकार से आनन्द मनाया ही जा रहा था
धीरे-धीरे रामचन्द्र बड़े हो गये। अब उन्हें क्षत्रिय-बालक होने के
ं छोटी-छोटी तीर, कमानें दे दी गई हैं। सुन्दर, लाल पाँवों में पद-
पहिन यहाँ-वहाँ खेलते फिरते हैं। यह दृश्य किसे मोहित न कर
—

"करतल शोभित बान धनुहियां।
खेलत फिरत कनकमय आंगन पहिरे लाल पनहियां॥
दशरथ कौशल्या के आगे लसत सुमन की छहियां।
मानो चार हँस सरवर ते बैठे आई सदहियां॥

अब रामचन्द्र और बड़े हो गये हैं। विश्वामित्रजी उन्हें दशरथ से ताड़कादि के वध-निमित्त मांग लाये हैं। उनका वध हो गया है। राम मिथिला पहुँच गये हैं। धनुष-यज्ञकी तैयारी हो रही है। सभा भरी है। सीताजी ने जब से रामचन्द्र को देखा है, तब से उनकी यही इच्छा है कि वे ही धनुष तोड़ सकें, किन्तु उनकी सुकुमारता एवं धनुष की कठोरता के कारण उन्हें हृदय में भय है। ईश से प्रार्थना करती हैं।

आसानी से राम धनुष तोड डालते हैं। विवाह हो रहा है। कई रीति-दस्तूर तो हो चुके हैं अब कंगन खोलने का दृश्य उपस्थित है। इस समय अब भी स्त्रियां इकट्ठी होकर बडा हास्य-विनोद किया करती हैं। क्योंकि यही प्रथम ऐसा अवसर मिलता है, जब कि वधू-गृह की स्त्रियों को वर देखने का पूरा सौभाग्य मिलता है। सूर की यही तो विशेषता हृदय को मुग्ध कर लेती है। वे यह भली भाँति जानते हैं कि सर्वोत्कृष्ट वर्णनीय स्थान कौन-कौन हैं।

सात्विक स्वेद के कारण—

"कर कंपै कंगन नहिं छूटै ।

राम सुपरस मगन भय कौतुक निरखि सखी सुख लूटै ॥
गावत नारि गारि सब दै दै तात भ्रात की कौन चलावै ।
तब कर डोर छूटै रघुपति जू कौशल्या माइ बुलावै ॥
पूंगी फल युत जल निर्मल धरि आनी भरि कुंडी जू कनक की ।
खेलत जूप युवक युवतिन में हारे रघुपति जीति जनक की ॥"

किन्तु सूर द्वारा श्रीराम के चित्रण के सम्बन्ध में इतना अवश्य दिखाई देता है कि श्रीकृष्ण और राम में कुछ अन्तर न मानते हुए भी उनकी आंतरिक वृत्तियाँ श्रीकृष्ण-चित्रण ही की ओर अधिक झुकी हुई थीं। यहीं विशिष्ट व्यक्तियों का व्यक्तित्व दिखाई देता है। कवि सूर कवि तुलसी से ऐसे ही स्थलों पर वैषम्य रखता है। वैसे सिद्धांती सूर और तुलसी में, भक्त सूर और तुलसी में कोई अन्तर नहीं है यदि सांप्रदायिकता के सिद्धांत पर विचार न किया जाय। और वास्तव में सूर और तुलसी विभिन्न सम्प्रदायों में रहते हुए भी उनकी साधारण काव्योचित बातों से प्रभावित नहीं हुए हैं। वे सदा सांप्रदायिकता से उसमें रहते हुए भी, ऊँचे उठे हैं। यही उनकी विशेषताएँ हैं।

सुन्दर वस्तुओं में सुन्दरता देखना तो एक साधारण बात है। अल्पज्ञ और साधारण व्यक्ति भी देख सकते हैं, किन्तु असुन्दर में सुन्दरता ढूंढ़ना एक महाकवि की पैनी दृष्टि वाले सहृदय ही की विशेषता हो सकती है।

सूर का श्यामता वर्णन

वैसे भी साधारण जनसमुदाय कालेपन की असुन्दर वस्तुओं में गणना करता है। पर भार-

गौद साहित्य की यह विशेषता रही है कि उसने असुन्दर में भी सुन्दर को देखा है, जैसा कि आजकल के पाश्चात्य-कला मर्मज्ञ भी देखने का प्रयत्न कर रहे हैं। गौरवर्ण आर्यों ने भी उच्च भावना तथा पैनी दृष्टि के कारण ही सम्भवतः द्रविड़ सभ्यता एवं संस्कृति से प्रभावित होकर भारतीय सभ्यता के प्राणों को भी यही श्यामता प्रदान की है। राम और कृष्ण के श्यामल वर्णन में भी यही भाव अन्तर्निहित है। बड़े गौरव के साथ हमारे साहित्यकारों ने इसे अपनाया है। हमारे साहित्य का निन्यानवे प्रतिशत से अधिक भाग राम और कृष्ण की भक्ति पर अवलम्बित है और उनका वर्ण भी श्याम ही माना गया है।

आज से लगभग १०० वर्ष पहिले आंग्ल-सभ्यता के प्रादुर्भाव अथवा श्वेताश्वेत के भाव ने 'दीनदयालु' सदृश साधु एवं वैरागी के हृदय में भी शायद एक ठेस पहुँचाई थी। सम्भव है इसी कालेपन की महत्ता को प्रदर्शित करने के लिए उन्हें इसे अपनाना पड़ा हो। श्यामता के आधार घनश्याम तो मौजूद थे ही, उसी पर अवलम्बित हो, अपनी भक्ति की सरिता से परिप्लावित उस ठेस को वे यह रूप दे सके।

> "कारो जमुना जल सदा, चाहत हौं घनश्याम।
> विहरत पुंज तमाल के, कारे कुंजन ठाम॥
> कारे कुंजन ठाम, कामरी कारी धारे।
> मोर पखा सिर धरे, करे कच कुंचित कारे॥
> बरनै 'दीन दयाल', रँग्यो रँग विषम विकारो।
> श्याम राखिये संग अहै मन मेरो कारो॥"

'कारे' ताल-तमाल और कालिंदी पर तो कितना ही साहित्य लिखा जा चुका है। इसी 'श्यामल गौर शरीर' पर गोस्वामीजी की ग्राम-वधुएँ भी न्योछावर थीं। उनके चले जाने पर भी बार-बार उनके मन में यही इच्छा होती थी कि—'चलु देखिये जाइ जहाँ सजनी!

रजनी रहिहैं...।'

यह तो कल ही की बात है कि जब दादाभाई नौरोजी सदृश महान भारतीय का इंग्लैण्ड में काले कहकर सम्मान किया गया था। महात्मा गांधी सदृश महान् आत्मा, विश्व की विभूति, The Greatest man after christ का दक्षिण अफ्रिका में अपमान किया गया था। दादाभाई के इसी अपमान से मर्माहत हो श्रीयुत 'प्रेमधन' को निम्नलिखित उद्गार प्रकट कर इसी श्यामता का गौरव ऊँचा उठाना पड़ा था। उनके उद्गार थे—

'कारो निपट न कारो, नाम लगत भारतियन।
यद्यपि न कारे तऊ भागि कारो विचारि मन॥
अचरज होत तुमहुँ सन गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे॥
अरु बहुधा कारन के हैं आधारहि कारे।
विष्णु-कृष्ण कारे, कारे सेसहु जग धारे।
कारे काम राम जलधर जल बरसन वारे।
कारे लागत ताहि सन कारन को प्यारे।...''

इससे स्पष्ट कथन और क्या हो सकता है? पर सूर ने भी इस भारतीय गौरव का व्यंग रूप में प्रत्यक्षीकरण किया है। सूर की यही विशेषता भी है कि उन्होंने कोई वर्णनीय स्थल नहीं छोड़ा है। अन्य कवियों ने भी श्यामता पर लिखा है पर सूर की शैली उनकी अपनी है।

उन्होंने अपनी तूलिका इस प्रकार के चित्रों के रँगने में चलाई तो है, पर वे इस 'कालेपन' में दूसरे रूप से सुन्दर देखते हैं, वैसे तो सूर कृष्ण के भक्त हैं ही पर जब वे गोपियों के द्वारा कृष्ण के प्रति उद्गार प्रकट करवाते हैं तब विदित होता है कि सूर का अपने कृष्ण पर—सखा कृष्ण पर कितना प्रगाढ़ अधिकार है। बिना अलौकिक अनन्य भक्ति के

इतना मर्मस्पर्शी व्यंग सूर के अतिरिक्त और कौन कह सकता है।

सूर केवल 'कारे' पर ही व्यंग नहीं कसते, वे तो 'कारे की जाति' ही को अपने व्यंग का निशाना बनाते हैं। और उसकी तुलना में प्रत्येक काली वस्तु के गुणों को सदोष सिद्ध करते हैं। व्रजबालाओं और उद्धव के मिस वे कहते हैं—

"मधुकर, कह कारे की जाति ?
ज्यों जल मीन कमल पै अलि की,
त्यों नहि इनकी प्रीति।
कोकिल कुटिल वायस छलि,
फिर नहि वहि जाति।
तैसे कान्ह केलि रस अँचयो,
बैठि एक ही पांति ॥
...........................।"

इसी 'कारे की जाति' के अन्य प्राणियों की करतूतें भी देखने योग्य हैं। भौंरा भी तो उसी कृष्ण की जाति का है। वह भी यदि छलिया और धोखेबाज हैं तो कृष्ण क्यों न होंगे ? जातिगत स्वभाव दूर कैसे हो सकता है ? भुजंग भी काला है। वह भी अपना जातिगत स्वभाव नहीं छोड़ता। भौंरा छलिया तो भुजंग 'डसिया'। षटपद पर सूर की कल्पना विचित्र है। वह रात्रि को उसके कमल में बन्द होने का कारण रति मानते और प्रातःकाल भाग जाने का कारण उसकी विभिन्न रसों में रुचि। इसीलिए तो व्रज की ग्राम्यबालाओं को विरहाग्नि में तपने के लिये छोड़ 'कारे की जाति' वाले 'श्याम' मथुरा चले गये थे और उनकी स्मृतियाँ मृदुल और सुखकर होते हुए भी बार-बार भुजंग बनकर डस जाती थीं। यदि कृष्ण काले न होते तो शायद स्मृतियाँ मृदुल और सुखकर ही बनी रहतीं। पर जातिगत स्वभाव कैसे

जिसका हृदय जिन वृत्तियों से रंगा होता है संसार भी उसे उसी रूप नजर आता है। एक सुखी को दुनिया सुखी और दुःखी को दुःखी ही दिखाई देती है। एक वियोगी भी 'जड़-संगम' में कुछ भेद न कर उसे वियोगमय ही जानता है। 'बिरह-विधुरा' व्रज ललनाएँ भी कालिन्दी के काले होने का यही कारण बताती हैं। कालिदी भी स्त्री है, इसलिए व्रजांगनाएँ उसकी मार्मिक व्यथा को यदि समझ सकें तो स्वाभाविक ही है। इसमें सूर ने स्त्री भावना के प्रेम का उत्कृष्ट रूप चित्रित कर दिया। परोक्ष रूप से वे भोली वधुएं इन सब बातों का अपराध जैसे अपने ऊपर ही ले रही हैं, तभी तो उन्हें कालिन्दी के काले होने का यही कारण प्रतिभासित हो रहा है। वे कहती हैं—

"देखियत कालिंदी अति कारी।
कहियो पथिक! जाय हरि सों ज्यों,
भई बिरह जुर जारी।
मनो पालिका पै परी धरनि धँसी,
तरंग तलफ तनु भारी।
तट बारू उपचार चूर मनो,
स्वेद प्रवाह पनारी।
विगलित कच कुस कास पुलिन मनो,
पंकज कज्जल सारी।
भ्रमर मनोमति भ्रमत चहूँ दिशि,
फिरति है अंग दुखारी।
निसि दिन चकई-व्याज बकत मुख,
किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति,
सो गति भई हमारी॥"

लीला और रूप ने पुष्ट 'जमुना-गति' के रूप में वियोग-जन्य-भाव की कितनी मंजुल व्यञ्जना सूर कर सके हैं, वह य हैं।

र का सम्बन्ध मस्तिष्क से है एवं भक्ति का हृदय से। मस्तिष्क विवेक, मनन एवं तर्क का निवास स्थान है तथा हृदय सहृदयता, पर-दुःख-कातरता आदि कोमल वृत्तियों का। ज्ञान

भक्ति तथा भक्त-महाकवि—सूर

इहलौकिक है, प्राप्य पदार्थ है। भक्ति पारलौकिक है, भगवत्-कृपा से ही प्राप्य है। ज्ञान में ओज और तेज है। कदाचित इसीलिए वह पुल्लिंग है। भक्ति में शांति है, तन्मयता है, परमात्मा में एकीकरण की भावना एवं अनन्यता है। इसीलिए कदाचित् भक्ति-शब्द स्त्रीलिंग है। उसमें पुरुषत्व का विकास है तो इसमें स्त्रीत्व की कोमलता। ज्ञान विजय चाहता है, भक्ति पराजय। ज्ञान समस्त ब्रह्माण्ड को वश में करना चाहता है, भक्ति अपने अणु अणु को उसमें व्याप्त देखना चाहती है। ज्ञान परिश्रम-साध्य है; किन्तु भक्ति के लिए हृदय चाहिये, भगवत-कृपा चाहिये।

ज्ञान से आप मस्तिष्क पर प्रभाव डाल सकते हैं, पर भक्ति से हृदय पर। ज्ञान का प्रभाव कठिनता से स्थायित्व प्राप्त कर सकता है, किन्तु भक्ति का सरलता से। ज्ञान में अभिमान के लिए पर्याप्त स्थान है, किन्तु भक्ति अभिमान को—अहंकार को दूर से ही प्रणाम करती है। ज्ञान भक्ति के बिना निरर्थक है, किन्तु भक्ति के लिए ज्ञान का होना अनिवार्य नहीं। ज्ञान एक प्रबल नद है, जो अपने पूर में तटस्थ ग्राम, वृक्षादि को बहा लेता है, किन्तु भक्ति एक निर्मल निर्झरिणी है, जो

लोकापवाद की विकट चट्टानों को पार कर भी अपने प्रियतम से मिलने के लिए एकरस बहती चली जाती है और यदि नहीं मिल पाई तो दुःखी होकर —अपनापन ही, अहंकार ही—खोकर दूसरे रूप से अपने प्रियतम से मिल ही जाती है।)

भक्ति ही ईश्वर-प्राप्ति, जो मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य है, का सुलभ साधन है। बिना भक्ति के भगवान का दर्शन होना दुर्लभ है। भक्ति ही से हृदय में भगवान के दर्शन होते और एक अलौकिक अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति होती है। भक्ति में आत्मा अपने 'अहं' को भुला देती है और तभी परमात्मा का प्रकाश उसमें स्थान कर लेता है, जैसे कि रिक्त स्थान में वायु स्वयं ही प्रवेश कर जाती है। भगवान् कृष्ण गीता में एक स्थान पर इसीलिये कहते हैं, जो मुझ पर आसक्त हैं और प्रेम-सहित मेरी उपासना करते हैं, उनकी बुद्धि को मैं इस प्रकार चलाता हूँ कि वे मुझे पा सकें। भक्ति में आत्मानुभाव की आवश्यकता है। मनुष्य के लिए नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन—का कथन किया गया है। इनमें यद्यपि पाखंड को प्रश्रय बहुधा मिल जाया करता है, किन्तु ध्यान-पूर्वक विचारने पर ये भक्ति की चरमावस्था पर पहुँचाने के लिए नौ सोपान प्रतीत होते हैं, जिन पर चढ़कर ही भक्त सच्ची भक्ति, परामक्ति तक पहुँच सकता है। बिना भगवान् के गुणों को सुने मस्तिष्क में भाव उठ ही नहीं सकते, हृदय मथा ही नहीं जा सकता। बिना उसका गान किये हम उसकी ओर झुक ही नहीं सकते, हममें तन्मयता आ ही नहीं सकती। भगवान का जब तक हम हृदय से बार-बार मनन न करें, उसका स्मरण न करें, तब तक हममें उस निष्कलंक के प्रति स्थायी अनुराग होना कठिन है। अनुराग प्रकट होने पर जिस

प्रगाढ़ हो सके, उस प्रकार उसकी सेवा, अर्चना, वंदना चाहे दास्य भाव से हो, चाहे सख्य-भाव से अथवा आत्म निवेदन के रूप में, किन्तु कपट त्यागकर, निरीह और संसार से अनासक्त हो उस परम आत्मा की खोज में लगना ही सच्ची भक्ति है।

यह तो स्वाभाविक ही है कि जब हम किसी से प्रेम करने लगते हैं, उसे अपने हृदयासन पर अधिष्ठित कर देते हैं, तब उसकी सब वस्तुएँ हमें प्यारी लगने लगती हैं। उसका छोटे से छोटा स्मरण-चिन्ह भी हमें आह्लाद-कारक प्रतीत होता है। इसी प्रकार परमात्मा से भी प्रेम होने पर उसकी समस्त रचना से हमारा प्रेम हो जाता है। हमारा हृदय घृणा से रहित हो सम-भावी बन जाता है। भक्ति बिना विषय-वासनाओं को छोड़े प्राप्त नहीं हो सकती, अपने भुलाये बिना उसमें तन्मयता नहीं आ सकती। इसीलिए भक्ति-पथ त्यागमय है। त्याग ही भक्ति एव धर्म का मूल है और इसी में प्राणियों का, मानव का हित, सुख सन्निहित है। इस भक्ति को प्राप्त करने के साधन भी रामानुजाचार्यजी ने विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद तथा अनुद्धर्ष बताये हैं। सदसद् के विचार को विवेक कहते हैं। रामानुजाचार्यजी तो खाद्याखाद्य के विचार को ही विवेक मानते हैं। विमोक का अर्थ है इन्द्रिय जन्य क्षणिक आनन्द को तिलांजली दे संयम एवं सरलता पूर्वक जीवन व्यतीत करना। विमोक की प्राप्ति शनैः-शनैः सत्य, दया, दान आदि के नियम लेने एवं अभ्यास द्वारा ही हो सकती है। लगातार परिश्रम करते जाने को अभ्यास कहते हैं। क्रिया से उनका तात्पर्य कदाचित कर्तव्य से है या मनुष्य की दैनिक धार्मिक क्रियाओं से। कल्याण का अर्थ भलाई या परोपकार एव पवित्रता से भी है। अतएव भक्ति भी परोपकार वृत्ति को लिये हुए है। अनवसाद का अर्थ शक्ति-बल से है। बिना शक्ति या बल के कोई कार्य नहीं चल सकता।

संबंध में वह परमात्मा का आंतरिक संयोग पा सुखी होना, उससे मान मनोअन करना और कराना है। उसके न मिलने पर दुःखी होता है और विरहिणी नायिका के समान उसके वियोग में उसे यह संसार भारी हो जाता है। आत्मा में उसके दर्शन से पति-दर्शन के समान सुख होता है।

जब वह स्वामी-सेवक के भाव से अपने उदगार प्रकट करता है, तब वह अपने स्वामी को सर्वोच्च और स्वयं को अति तुच्छ समझता है। इस सम्बन्ध में वह परमात्मा की जितनी सेवा कर सके, उतनी सेवा करने की आकांक्षा रखता है। परमात्मा में उसे गुण ही गुण और स्वयं में दोष ही दोष दिखाई देते हैं। उसकी आज्ञा पालन करना ही उसका एक मात्र कर्त्तव्य हो जाता है। उस समय वह स्वयं 'गृही' और परमात्मा को 'गुड़ायक' समझ अपने को उसी के हाथों में समर्पण कर देता है। गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के द्वारा वह गुरु ही में परमात्मा का आरोप कर उसकी पूजा-अर्चना करता है।

वात्सल्य-भाव-भक्ति में हम प्रेम का पूर्ण विकसित रूप देखते हैं एवं सख्य-भावों में हृदयोद्गारों की निर्मलता तथा निष्कपटता। गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भंग हो सकता है। गुरु शिष्य को अवज्ञाकारी देख उससे घृणा करता है, उसे पृथक कर सकता है। उसमें बुद्धि का अभाव देख उसे ज्ञान-दान देने में सकोच कर सकता है। शिष्य भी गुरु को त्याग अन्य को अपना सकता है। यही बात स्वामी सेवक में भी हो सकती है। स्वामी सेवक को तिलांजलि दे सकता है और सेवक स्वामी को।

पति-पत्नि-भाव में शृंगार-भाव पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और यह सम्बन्ध भी जीवन-पर्यंत निबाहा जा सकता है। इसमें निर्मलता एवं कोमलता भी प्रचुर मात्रा में व्याप्त है, किन्तु यह भी वात्सल्य-भाव की समता करने में असमर्थ है। सब कोई अन्य हो सकते हैं, किंतु माता

ही पश्चात्ताप की पंचाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए पावन पंखा है, जिसके पवन से बड़े-बड़े पाप पुन्जों के पर्दे भी छिन्न विच्छिन्न हो जाते हैं। इसी विनय में निमग्न हो अनाक्षी सूर दिव्य चक्षु प्राप्त कर उस रस-धारा को प्रवाहित करता है, जिसके मधुर सुस्वादु अमृत-जल का पान कर हृदय कभी तृप्त नहीं होता। इसी के वश हो कहीं वह 'पंगु' से गिरियों का उल्लघन करवाता है; कहीं वह 'अँधरे' से सब कुछ दिखवा लेता है; कहीं वह रंक के सिर पर छत्र तनवाता है; कहीं भगवान से अपनी ढिठाई क्षमा करवा लेता है। कभी वह 'माया-नटनी' के प्रपंच से अपने को निकलवाने की चेष्टा करता है। कभी वह अपने 'काम-क्रोध' के 'चोलना' को नष्ट करने की प्रार्थना करता है। वास्तव में विनय ही भक्ति का सच्चा सहचर है। विनय बिना भक्ति कैसी और भक्ति बिना विनय की सुन्दरता कैसी ? दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

विनय के सम्बन्ध में विरोधाभास एवं विभावना का यह उत्कृष्ट तथा बहु विश्रुत उदाहरण द्रष्टव्य है। इसमें भगवान की महिमा की पराकाष्ठा कर दी है। यदि भगवान में इन गुणों का आरोप नहीं किया जाय, तो इस संसार-सागर से, जिसे मानव अल्प शक्ति से ही तैरना चाहता है, कैसे तैरकर पार पहुँच सकता है ? विराट विश्व में वह एक तृण के समान ही तो है। उसी तरह वह इधर-उधर उतराता तो है ही। शक्तिहीन मानव पंगु, अंध, बधिर रंक तो है ही। वह सोचता कुछ है, पर नियति कुछ और ही कर देती है। बड़े-बड़े धर्मशास्त्र और महात्मा भी उसकी अंध आत्मा को दिव्य चक्षु—ऐसे दिव्य चक्षु, जो आत्मा सदृश हों, अनाशवान हों, अमर हों—चिरकाल तक न दे सके। बीसवीं शताब्दी के विद्वानों से युक्त मानव भी तो आज रो रहा है। उसकी आत्मा व्याकुल है, अवहेलित है। इसी अहंकारी युग में तो

"कहा कमी जाके राम धनी ।
मनसानाथ मनोरथ पूरण,
सुख-निधान जाको मौज धनी ॥
अर्थ धर्म अरु काम मोक्ष,
फल चार पदारथ देत धनी ।
इन्द्र समान जाके सेवक हैं,
मो बपुरे की कहा छनी ॥
कहा कृपण की माया कितनी,
करत फिरत अपनी - अपनी ।
खाइ न सकै खरच नहिं जानै,
ज्यों भुजंग सिर रहत मनी ॥"

ससार में यह मायारूपी नटनी ही तो इस जीवात्मा को वन्दर की नाईं नाच नचाया करती है। नटनी जब वन्दर से कहती है, 'बेटा सलाम करो' तव बन्दर मियाँ भी हाथ उठाकर सलाम करते हैं। जब वह पेट दिखाने को कहती है, तो तुच्छ से तुच्छ के सामने भी उसे पेट दिखाने का स्वाँग करना ही पड़ता है—इच्छा से हो अथवा अनिच्छा से। माया नटनी भी तो यही स्वाँग जीवात्मा से करवाया करती है। नटनी वेचारी तो कुछ निर्दिष्ट स्वाँग ही भरवा पेट पाल लेती है, किन्तु उस माया नटनी का पेट बड़ा लम्बा-चौड़ा है। उसको नचवाने के लिए तो एक नहीं, दो नहीं, चौरासी लक्ष योनियों का द्वार खुला हुआ है। इन योनियों में ही भ्रमण करवा लेने से उसे संतोष हो जाता हो, सो बात नहीं। प्रत्येक चक्कर के साथ उसने काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि के आवर्त भी रख दिये हैं, जिसके आधीन हो वह न्यायान्याय का ध्यान छोड़ मनमानी करने लगता है। काम उसे सद्वृत्तियों पर विजय प्राप्त नहीं करने देता। क्रोध उससे ऐसा विष

है। मानव कितना ही आत्मिक रूप से निखरे, कितना ही निष्कलंक रहना चाहे, किन्तु इस संसार की काजल-वलित कोठरी में से, "कैसो हू सयानो जाय काजर की एक रेख, लागि है पै लागि है" (सेनापति)। यही 'एक रेख' जब आत्मा निखरने लगती है निष्पाप होने लगती है, तब उस व्यक्ति को महान् दोष-सी दिखाई देने लगती है। उस समय संसार की दृष्टि में जो एक साधारण बात रहती है, वही उसे बड़ी और बढ़ी हुई प्रतीत होती है, जैसे डॉक्टर को रोगों के कीटाणु, जिन पर साधारण जन कुछ ध्यान ही नहीं देते और उनके शिकार होते रहते हैं। इसीलिए सूर सी निष्कलुष-पथगामी आत्मा कहती है—

"कौन गति करि हो मेरी नाथ।

हौं तो कुटिल कुचील कुदरसन रहत विषय के साथ॥"

यही नहीं, अन्य अनेक अपराध भी मैंने किये हैं। इस जन्म के कम ही सही, किन्तु मैं तो अनन्त जन्म धारण कर चुका हूँ। इसीलिए तो सूर की या मानव की उस आत्मा में इस जीवन के पश्चात् की गति के लिए छटपटाहट है। छटपटाहट है अवश्य, किन्तु सूर को अपने 'प्रभु' की 'दृढ़ प्रतीति' भी तो है, "सूर पतित जब सुन्यो बिरद तब धीरज मन आयो।"

इसी 'विरद' का आश्रय पा सूर उस 'अगम्य' तक पहुँचने की चेष्टा करते हैं। सूर अपने को एक साधारण पतित समझते हों, यह बात नहीं है।

"पतितन में विख्यात पतित हौं, पावन नाम तिहारो!'

ऐसे पतित अपने को समझते थे सूर। किन्तु भगवान् के 'बिरद' ने ही उन्हें इतना उत्साहित कर दिया कि वे उनके मुँह लगे मित्र हो गये हों जैसे। सूर-सा अक्खड़ कवि जब भगवान के मित्रासन पर बैठ जाता है, तब तो उसके विशाल अत्युच्च हृदय-गिरि से जो भावस्रोत प्रवाहित

होता है, वह अप्रतिम है, अनिर्वचनीय हैं। सखा बनाकर ही तो वे भग वान् के निर्मल हृदय का अपने हृदय से सामञ्जस्य कर सके हैं। वह निर्झरिणी बहा सके हैं, जो भाव-विभोर किये विना नहीं रहती।

सूर कहते हैं, अनेक पतितों को तारकर यदि आपको गर्व हो गया हो, तो आप उस अभिमान को त्याग दीजिये। यदि आप में सद्गुणों की कमी नहीं है तो मुझमें भी दुर्गुणों का पार नहीं है। मैं आपको सीधे नहीं छोड़नेवाला हूँ। आज तो फिर मैं प्रतिज्ञा करके आपके द्वार पर आ डटा हूँ। महाराज, अभी तक तो मैं अपनी बात पर—अपनी तुच्छता पर नहीं आया था। इसलिए अनुनय विनय से अपनी कार्यसिद्धि करना चाहता था। मैं महापतित ही नहीं हूँ, खानदानी पापी हूँ। मुझ-सदृश पापी का यदि उद्धार नहीं किया तो अनेक पतितों के तारने के 'यश' पर मैं पानी फेर दूंगा। मैं नीच जगह-जगह डौंडी पीटता फिरूंगा कि इन्होंने 'पतितपावन', 'दीनानाथ', 'अशरण-शरण', 'जगदाधार' के बाने तो धारण कर लिये हैं, किन्तु मुझे वे भी नहीं तार सके। इसलिए सीधे-सीधे आपसे कहता हूँ कि एक बार कह दो, 'सूर मेरा है'। और यह कहलवाकर ही रहूँगा; क्योंकि आज ही तो, "हौं पायो हरि हीरा।' मेरी प्रतिज्ञा है—

'बांह छुड़ाये जात हो निवल जानि कै मोंहि;
हिरदै से जब जाइयो, मरद बदूंगो तोहि।"

मित्र ही तो ठहरा। प्रतिज्ञा ही नहीं की है, मरने-मारने को, लड़ने-झगड़ने को तैयार बैठा है। स्नेहातिरेक के अतिरिक्त इसे और क्या कहें? कितना ओज और दृढ़ प्रतिज्ञा है। सूर झुंझला उठते हैं—

"आज हौं एक-एक करि टरि हौं।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव, अपुन भरोसे लरिहौं
....

अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्हें बिरद बिनु करिहौं ॥"

यह नंगापन नहीं, हृदय का मधुर भार है, हृदय की तिलमिलाहट है, हलकापन है। ऐसे उद्गार तो उस 'प्रभु' का अनन्य, एकरस भक्त ही प्रकट कर सकता है। दूसरे का इतना साहस नहीं हो सकता। तुलसी ने भी तो यही प्रतिज्ञा की थी—"प्रन करिहौं हठि आजु मैं राम द्वार परयो हौं। तू मेरो यह बिन कहे उठिहौं न जनम भरि, प्रभु की सौं करि निबरयो हौं।"

भक्त हृदय से और चाहता ही क्या है सिवा इसके कि उसका इष्टदेव उस पर कृपा करता रहे। यह अवश्य है कि वह अपने स्वामी पर कभी खीझता है तो कभी रीझता भी है। पर अपना सर्वस्व तो वह 'कृष्णार्पणमस्तु' ही कर देता है। 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'। इसीलिए सूर भी रीझ-खीझकर अन्त में कह ही उठते हैं—

"जैसे राखहु तैसेहि रहौं।
जानत दुख-सुख सब जन के तुम मुख करि कहा कहौं ॥"
और भी—
"तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।
छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्रान ॥"
"मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पर आवै ॥"

यहाँ एक बात विचारणीय है। यदि भक्त ही भक्त विनय करता जाय और सर्वेश्वर यदि उसकी विनय पर ध्यान न देवें, तो इस विराट् विश्व में मानव की संसारी आत्मा की क्या गति हो? वह शीघ्र ही थककर निश्चेष्ट हो जाय। एवं शायर ने कहा है—"अगर हम ही हम तड़पे तो क्या तड़पे। तुम भी तड़पो तो मजा उट्ठे मुहब्बत का।" इसलिए भक्त कवि भगवान के उस रूप का भी कथन करते आये हैं,

जहाँ वह 'अपने जन' को—मानव को—प्रोत्साहित करते हैं, भक्त वत्सलता प्रकट करते हैं। गीता की रचना ही इसी महोद्देश्य को लेकर हुई है। वह किसी-न-किसी रूप से मानवात्मा को निश्चेष्ट, निष्क्रीय होने से बचाते हैं। सूर भक्ति के इस अंग को भी अछूता नहीं छोड़ते। उन से वह छूट ही नहीं सकता था; क्योंकि वे तो भक्ति की परिकाष्ठा पर पहुँचे हुए पुरुष थे। सूर के इन पदों से कौन भक्त रसिक एवं प्राचीन काव्य-प्रेमी अपरिचित है?

> "हम भक्तन के भक्त हमारे।
> सुन अर्जुन परतिग्या मेरी यह ब्रत टरत न टारे।"
> यही नहीं—
> 'मेरी परतिग्या रहै कि जाइ।"

अन्त में अपनी भक्ति का सारा रस वे निम्नलिखित पद में बड़ी सबी के साथ पाश्चात्य साहित्य के सामने कंगाल कही जाने वाली हिन्दी को दे गये हैं, जिससे जब भी वह विश्व के कानों तक पहुँचेगी, अपना मस्तक ऊँचा उठा सकेगी। केवल अँग्रेजी भाषा के प्रवाह के कारण उसके साधारण से भी साधारण भावों को ऊँचा समझने वाले प्रशंसक देखें कि कितना ज्ञेय, सारगर्भित, कितना भावपूर्ण एवं मर्मस्पर्शी यह पद है। चित-चकई को सम्बोधित कर वे कहते हैं, हे चकई, उस देश को चल, जहां कभी अपने प्रिय का वियोग ही नहीं होता, जहां कभी रात्रि ही नही होती। जब रात्रि ही नहीं, तो चकवाक पतिपत्नि की पृथक्ता कैसी? और पृथक्ता के अभाव में वियोग कैसा? सूर का वह पद है—

> "चकई री, चल चरन-सरोवर, जहां न प्रेम वियोग।
> जहँ भ्रम-निशा होत नहि कबहूँ, वह सायर सुख जोग।
> जहां सनक से मीन-हंस शिव मुनी जन नख रवि प्रभा प्रकास।

प्रफल्लित कमल निमिप नहिं ससि डर गुंजत निगम सुवास।
जिहि सर सुभग मुक्ति-मुक्ताफल सुकृत अमृत पीजै।
सो सर छांड़ि कुबुद्धि विहंगम यहां कहा रहि कीजै।
लच्छमी सहित होत नित क्रीड़ा सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विपय रस छीलर वा समुद्र की आस।"

तुलसी के बाद यदि किसी महाकवि को स्थान दिया जा सकता है तो वे सूर ही हैं, वास्तव में सूर हिन्दी-साहित्य के एक जगमगाते रत्न हैं जिनका अमिट प्रभाव है। प्रारंभ से ही "सूर सूर, तुलसी

सूर-साहित्य का हिंदी में स्थान और प्रभाव

ससी" वाली उक्ति उनके विषय में प्रचलित है। सूर का सम्मान भी कम नहीं है और जिस दिन तुलसी और सूर अन्य भारतीय भाषा-भाषियों के समक्ष नहीं, संसार के समक्ष आवेंगे, तब इनका स्थान आज से कहीं उच्च होगा। इनका लोहा—एक की सर्वतोमुखी प्रतिभा का और दूसरे के कवित्व का काव्य का लोहा संसार को नत मस्तक होकर मानना पड़ेगा। सूर का प्रभाव हिन्दी-साहित्य पर भी कम नहीं बड़ा है। इनकी पदशैली का अनुकरण गीतावली में लक्षित होता है, मीरा में देखने को मिलता है एवं अन्य तत्कालीन एव परवर्ती कवियों में भी ज्ञात होता है; किन्तु सफलता से अनुकरण एक-दो ही कर सके हैं। इनके पश्चात्, उस समय सूर और तुलसी के भावों को लेकर कई क्षुद्र कवि राजदरबारों में कविराजों की उपाधि से विभूषित होते थे। वास्तव में कबीर, सूर और तुलसी इन त्रिरत्न महात्माओं ने मिलकर हिन्दी भाषा को उच्च पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जैसा आज तक कोई न कर सका। सूर का एक विपथगामी प्रभाव और पड़ा। वह था राधाकृष्ण की भक्ति का। उनके काव्य में लोक-दृष्टि से कुछ अश्लीलता थी। वह थी साम्प्रदायिक प्रभाव के कारण। पर सूर वास्तव में

सूर : एक अध्ययन

हिन्दी के पत्रों की निष्पक्ष, अविकल आलोचनाएँ

यह निबन्ध, न केवल सूर की जीवनी और कविता से, किन्तु विस्तृत प्राचीन हिन्दी साहित्य से परिचित लेखक के परिश्रम का फल है। पुस्तक में, साहित्य चर्चा करते समय, सूर के समरस होने वाली पहुँच के दर्शन उतने नहीं होते, जितनी चर्चा कि साहित्य और संगीत की की गई है। जहां सूर के पदों में लेखक की संवेदनशीला कलम पहुँची है वहां अवश्य वह आनन्ददायनी हो गई है। हम इस उद्योग की, और नरेन्द्र साहित्य कुटीर के आयोजन की सफलता चाहते हैं।

'कर्मवीर' खंडवा।

महात्मा सूरदास हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकवि हुए हैं। आपका सूरसागर ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा है। आपने कृष्णचन्द्रजी का सर्वांग सुन्दर वर्णन किया है। इन महाकवि की समालोचना में मिश्र बन्धु का 'हिन्दी नवरत्न', ला० भगवानदीनजी का 'सूरपंचरत्न', पं० रामचन्द्रजी का 'भ्रमरगीत' और पं० हजारीलाल द्विवेदी का 'सूर-साहित्य' यह पुस्तकें ही प्रसिद्ध हैं। बा० शिखरचन्दजी की यह पुस्तक अपने ढंग की निराली है। आपने अपने विशेष ढंग व दृष्टि कोण से सूरदास की महानता पर विचार किया है। पुस्तक में यत्र तत्र नवीन सामग्री व लेखक की प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यह पुस्तक 'सूरदास' का विशेष अध्ययन करने वालों को अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी। प्रयत्न सराहनीय है। छपाई सुन्दर है'।

'जैन साहित्य', देहली।

महाकवि सूरदास की कविताओं के सम्बन्ध में यह पुस्तक लिखी गयी है। हिन्दी भाषा का बीज-वपनकाल, सूर के पहिले की राजनैतिक

सूर : एक अध्ययन

हिन्दी के पत्रों की निष्पक्ष, अविकल आलोचनाएँ

यह निबन्ध, न केवल सूर की जीवनी और कविता से, किन्तु विस्तृत प्राचीन हिन्दी साहित्य से परिचित लेखक के परिश्रम का फल है। पुस्तक में, साहित्य चर्चा करते समय, सूर के समरस होने वाली पहुँच के दर्शन उतने नहीं होते, जितनी चर्चा कि साहित्य और संगीत की की गई है। जहां सूर के पदों में लेखक की संवेदनशीला कलम पहुँची है वहां अवश्य वह आनन्ददायनी हो गई है। हम इस उद्योग की, और नरेन्द्र साहित्य कुटीर के आयोजन की सफलता चाहते हैं।

'कर्मवीर' खंडवा।

महात्मा सूरदास हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध महाकवि हुए हैं। आपका सूरसागर ग्रन्थ अपने ढंग का अनूठा है। आपने कृष्णचन्द्रजी का सर्वांग सुन्दर वर्णन किया है। इन महाकवि की समालोचना में मिश्र बन्धु का 'हिन्दी नवरत्न', ला. भगवानदीनजी का 'सूरपंचरत्न', पं० रामचन्द्रजी का 'भ्रमरगीत' और पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'सूर-साहित्य' यह पुस्तकें ही प्रसिद्ध हैं। बा० शिखरचन्दजी की यह पुस्तक अपने ढंग की निराली है। आपने अपने विशेष ढंग व दृष्टि कोण से सूरदास की महानता पर विचार किया है। पुस्तक में यत्र तत्र नवीन सामग्री व लेखक की प्रतिभा के दर्शन होते हैं। यह पुस्तक 'सूरदास' का विशेष अध्ययन करने वालों को अत्यन्त सहायक सिद्ध होगी। प्रयत्न सराहनीय है। छपाई सुन्दर है'।

'जैन साहित्य', देहली।

महाकवि सूरदास की कविताओं के सम्बन्ध में यह पुस्तक लिखी गयी है। हिन्दी भाषा का बीज-वपनकाल, सूर के पहिले की राजनैतिक

अवस्था और धार्मिक परिस्थिति, वैष्णव धर्म और उसके सिद्धांत, अष्ट छाप के कवि और उनका प्रभाव इत्यादि विषयों की विवेचना करते हुए, जैन महोदय ने सूरदासजी के जीवन और उनके काव्य-ग्रन्थों पर अच्छा प्रकाश डाला है। भाषा और शैली की भी सुन्दर आलोचना की है। इसके अतिरिक्त विद्यापति, कबीर, तुलसी आदि महाकवियों से भी सूर की तुलना की गई है। अन्त में सूरदास की कविता का सोदाहरण कलात्मक विवेचन है। पुस्तक की भाषा परिमार्जित और शैली सुन्दर है। सूर का गम्भीर दृष्टि से पाठ करने वाले लोग इस 'अध्ययन' के अध्ययन से अच्छा लाभ उठा सकते हैं। पुस्तक उपयोगी और संग्रह करने योग्य है। 'सैनिक' आगरा।

हिन्दी में वात्सल्य रस के चित्रकार अमर कवि सूरदास पर एक विवेचनात्मक निबंध। इस १५६ पृष्ठ के निबन्ध में लेखक ने सूरकाल की सामाजिक, राजनैतिक तथा साहित्यिक दशा के चित्रण से सूरसाहित्य के सौन्दर्य पर आलोचनात्मक विवेचन किया है। पुस्तक विद्यार्थियों के तो उपयोग की है ही, साथ ही उनके लिए भी काफी उपयुक्त है जो सूर-काव्य के अनन्य प्रेमी हैं। 'कहानी' काशी।

श्री नलिनी मोहन सान्याल के लिखे हुए 'भक्तशिरोमणि सूरदास' नामक ग्रंथ का परिचय अक्टूबर मास के साहित्य-सन्देश में दिया जा चुका है। सूरदास के सम्बन्ध में प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियों के लिये अधिक काम की चीज है। यह पुस्तक प्रायः विद्यार्थियों के ही दृष्टिकोण से लिखी गई है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही सूर से पूर्व की राजनैतिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन अच्छे ढंग से कराया गया है। इस विवेचन में दो-एक बातें ऐसी हैं। जो अवश्य ही विवादास्पद हैं। लेखक महोदय लिखते हैं कि "इसी समय बौद्धों के २४ बुद्धों, जैनों के २४ तीर्थंकरों के समान २४ अवतारों की भी कल्पना कर साम्य स्थापित कर लिया गया। यह नहीं कहा जा सकता कि तीनों धर्मों में

एक संख्या की पूर्ति एक संस्कृति और परम्परा का फल है अथवा अनुकरण का फल। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के यहां अवतारों की संख्या चौबीस में ही सीमित नहीं है। कहीं कहीं अड़तालीस अवतार भी माने गये हैं।

लेखक महोदय ने सूर-साहित्य में अवगाहन करने के लिये तीन स्तम्भों पर विशेष जोर दिया है–(१) विष्णु, वैष्णवधर्म एवं वल्लभाचार्य। (२) संगीत और (३) भक्ति। वैदिक साहित्य में विष्णु का विकास दिखलाते हुए लेखक ने बतलाया है कि पहिले शिव का अधिक महत्व था। पीछे से विष्णु का, जो कि सूर्य के अवतार माने जाते थे, महत्व हुआ। विष्णु के सम्बन्ध में लेखक महोदय वामनावतार की कथा का भी उल्लेख करते हैं। महाभारत में विष्णु और कृष्ण का एक्य हो जाता है किन्तु वे गोपालकृष्ण नहीं हैं। लेखक महोदय वल्लभ संप्रदाय के संबंध में कहते हैं कि गीता को ये सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थ मानते हैं। मेरी समझ में वे गीता की अपेक्षा श्रीमद्भागवत को अधिक महत्व देते हैं। वल्लभ सम्प्रदाय के पुष्टि मार्ग के सम्बन्ध में आपने बतलाया है कि ईश्वर के अनुग्रह का नाम 'पुष्टि' है (भोजनों द्वारा शरीर की पुष्टि नहीं है।) वल्लभ संप्रदाय के सम्बन्ध में आपका कथन है कि उस सम्प्रदाय ने दुःखाकुल जनता के लिये बाम (Balm) का काम किया।

संगीत के सम्बन्ध में लेखक ने बहुत अच्छा विवेचन किया है और उसके अंग प्रत्यंगों पर भी प्रकाश डाला है। भक्ति और ज्ञान के संबंध में लेखक ने कुछ अच्छे विचार प्रकट किये हैं। "ज्ञान में ओज और तेज है। कदाचित् इसीलिए वह पुल्लिंग है। भक्ति में शान्ति है, तन्मयता है, परमात्मा में एकीकरण की भावना है, एवं अनन्यता है, इसलिए कदाचित् भक्ति शब्द स्त्रीलिंग है। उसमें पुरुषत्व का विकास है, तो इसमें स्त्रीत्व की कोमलता। ज्ञान विजय चाहता है, भक्ति पराजय। ज्ञान समस्त ब्रह्माण्ड को वश में करना चाहता है, भक्ति अपने अणु-अणु को उसमें व्याप्त देखना चाहती है।"

लेखक ने दास्य, सख्य आदि भक्ति के प्रकारों पर भी अच्छा प्रकाश डाला है। भक्ति में 'सूर' के सख्यभाव के ही ऊपर अधिक जोर दिया है।

'सूर' की अन्य कवियों से तुलना करते हुए लेखक महोदय ने उन पर विद्यापति और कबीर का अधिक प्रभाव बतलाया है। यह हम मानने को तैयार हैं कि सूर विद्यापति से प्रभावित अवश्य हुए हैं किन्तु यह कहना कि 'सूर' में विद्यापति का ही प्रतिबिम्ब नजर आता है विचारणीय है। विद्यापति और सूर ने यथार्थ चित्रण के नाम से बहुत कुछ कहा है, किन्तु सूर अपनी राधा को रस-शास्त्रों की नायिकाओं की सी परम्परा में अधिक नहीं लाये हैं। विद्यापति भावुक होते हुए भी साहित्यिक अधिक हैं। सूर की साहित्यिकता और शृंगार वर्णन भक्ति-भावना से ही प्रेरित मालूम पड़ते हैं।

कबीर और सूर के अक्खड़पन में जो समानता देखी गई है; वह बहुत ऊपरी है। सूर का अक्खड़पन प्रेम का अक्खड़पन है और कबीर का खंडन खंडनात्मक है। सूर के दृष्टिकूट भी कबीर की उलट-बाँसियों के रूपान्तर नहीं हैं, क्योंकि सूर के दृष्टिकूट एक प्राचीन परम्परा के अनुकरण में हैं। महाभारत में भी हमको बहुत से कूट श्लोक मिलते हैं। कबीर की उलट-बाँसियों में भाव और विचार की गहनता है, सूर के दृष्टिकूटों में पाण्डित्य और साहित्यिकता अधिक है।

कतिपय मतभेदों के होते हुए भी पुस्तक बड़े अच्छे ढंग से लिखी गई है। शिखरचन्दजी की समालोचना शुष्क समालोचना नहीं, उसमें भावुकता है और भावुकता के साथ गम्भीर पैठ भी है। पुस्तक अत्यंत उपादेय और संग्रहणीय है।

'साहित्य-संदेश', आगरा।

सूर पर आलोचनात्मक साहित्य का अभी हमारे यहाँ अभाव है,— सूर क्या, प्राचीन साहित्य पर एक तरह से समीक्षात्मक पुस्तक हमारे यहां है ही नहीं। यदि आचार्य शुक्लजी इस दिशा में अपने प्रयत्न न

उपस्थित करते तो हमें शून्य दृष्टि से ही प्राचीन साहित्य को देखना पड़ता। अब थोड़े दिनों से तुलसी की भांति सूर पर भी कुछ पुस्तकें स्वतन्त्र रूप से निकलने लगी हैं। उनमें से तीन पुस्तकें हमारे देखने में आई हैं—प्रथम श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा, द्वितीय श्रीनलिनीमोहन सन्याल द्वारा और तृतीय श्री शिखरचन्दजी द्वारा लिखी गई यह पुस्तक।

श्री शिखरचन्दजी की पुस्तक १६० पृष्ठों में समाप्त हुई है। सूर के सम्बन्ध में जितने भी प्रश्न उठ सकते हैं उनमें से अधिकांश पर लेखक ने विचार किया है। संगीत पर भी शास्त्रीय विवेचन कर दिया गया है पर सूर का उससे कितना सम्बन्ध है यह दृष्टिकोण नहीं रह पाया।

फिर भी यह पुस्तक विशारद आदि के विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी, इसमें सन्देह नहीं।

सच तो यह है कि श्री नलिनीमोहन की शैली, श्री द्विवेदीजी की गम्भीरता एवं जैनजी की सामग्री-पूर्णता का सामञ्जस्य सूर के समालोचना-साहित्य के लिये अपेक्षित है।

'कमला', काशी।

नरेन्द्र साहित्य कुटीर, इन्दौर

के

प्रकाशनों का संक्षिप्त परिचय

आलोचना साहित्य

१ सूरः एक अध्ययन—दूसरा संस्करण

लेखक शिखरचन्द जैन, साहित्यरत्न। इसमें सूर साहित्य की सर्वांगपूर्ण, सरस आलोचना है। सूर साहित्य के अध्ययन प्रेमी एवं अन्वेषकों के काम का तो यह है ही, साथ ही इन्टर से एम. ए. तथा प्रथमा से उत्तमा तक के छात्रों तथा समकक्ष अन्य परीक्षा के छात्रों के लिए भी उपयोगी है। मोनो, १२ पाइंट में पृ. सं. १६४ मू. २)

२ नारी हृदय की अभिव्यक्ति—दूसरा संस्करण

ले. वही। इसमें 'यशोधरा' (रच. श्री गुप्तजी), 'नूरजहाँ' (रच. श्री गुरुभक्तसिंहजी) तथा 'ध्रुवस्वामिनी' (ले. श्री प्रसादजी) पर तीन सरस आलोचनात्मक निबंध हैं, और इनके चरित्रों के आधार पर नारी हृदय की मार्मिक, कचोटपूर्ण, सरस अनुभूति की सुन्दर, प्रभावक अभिव्यक्ति की गई है, जिससे ममतामयी नारी के हृदय के तल की कोमल मधुरतम, किन्तु विषादमयी भावनाओं पर प्रकाश पड़ता है। पृष्ठ संख्या ६४, मू. ॥)

३ हिन्दी नाट्य चिंतन—

ले. शिखरचन्द जैन सा. र.। हिन्दी साहित्य में यह अपने विषय का पूर्ण, अनूठा, नवीन और मौलिक ग्रन्थ है। इसमें कला, नाट्य कला,

संकलित हैं जो अन्यत्र प्रकाशित नहीं। पुस्तक रंग-बिरंगी स्याही में पाकेट साइज में छपी है। पृष्ठ संख्या लगभग ७६, मूल्य ॥)

७ मेरे बोल--

रच. श्री रामचन्द्र शर्मा, 'नवजात'। इसे हि. सा. स. के सभापति पंडित माखनलाल चतुर्वेदी का आशीर्वाद प्राप्त है। प्रगतिवादिनी मार्मिक और हृदय की कचोट को व्यक्त करने वाली कविताओं से पूर्ण इसके सिवाय कोई दूसरी पुस्तक आपको नहीं मिलेगी। जो आपको अपने युग के दैन्य और दरिद्र का इतना अच्छा चित्र खींच सके। मू. ॥।)

८ हमारे युग की कहानियाँ—

संपादक—श्री सूरजमल गर्ग, बी. ए. एल. एल. बी. सा. र. शिखरचन्द जैन साहित्य रत्न। इस युगान्तरकारी कहानी संग्रह में २१ होनहार प्रसिद्ध कहानी लेखकों की मौलिक सरस भाव पूर्ण और मार्मिक कहानियाँ संग्रहीत की गई है, जो गति, जीवन और सुदृष्टि देने वाली हैं। कहानी साहित्य पर ३० पृष्ठ की भूमिका सहित सजिल्द, पृष्ठ संख्या लगभग २७४, मूल्य २॥।)

९ हिंदी जैन साहित्य और समाज—

जैन साहित्य और समाज की मार्मिक आलोचना और निबंध पृष्ठ संख्या १२८, मूल्य १)

१० अखंड भारत—

बालोपयोगी, इसमें कहानी, कविता नागरिक कर्तव्य पर लेख, संवाद सभी कुछ है। मूल्य ।=)

११ युगांकिनी—

इसमें युग जीवन की संदेश वाहिका और समाज और संस्थाओं का सच्चा चित्र खींचने वाली कहानियाँ हैं। मूल्य १॥)

१२ स्वतन्त्री—

ले. श्री मोहनलाल जी अग्रवाल, 'निर्मोही' एम. ए. [illegible] सर इतिहास प्रसिद्ध धारा नगरी के [illegible] [illegible] संबन्धित—जिस पर [illegible] के [illegible] [illegible] ने [illegible] किया था—स्वतन्त्री—धारबहादुर का [illegible], सरस भावपूर्ण [illegible] संवाद है मूल्य ॥।)

१३ कणिकाएँ—

ले. शिखरचन्द जैन साहित्य रत्न । यह अनूठे [illegible] [illegible] है । इसका एक एक अंश अनुभूति, कठोर और [illegible] से भरा हुआ है । मूल्य १॥)

१४ गुनगुन—

कुमारावस्था की सरस कविताएँ । मूल्य ॥।)

१५ बालकों और छात्रों की समस्याएँ

१६ जीवन को उत्थान देने वाले निबंध—

ले. शिखरचन्द जैन, साहित्य रत्न, नवकुमारों तरुणों और छात्रों के जीवन को उत्थान की ओर ले जाने वाला भाव और विचार पूर्ण ग्रंथ मूल्य १॥।)

१७ युग जीवन के साहित्यिक निबंध—

ले. शिखरचन्द । इसमें आधुनिक साहित्यिक तथा अन्य समस्याओं पर विचारपूर्ण आलोचनात्मक तथा अन्य निबंध हैं । पुस्तक जिज्ञासु तथा अध्ययन और मननशील पाठकों, मैट्रिक, इंटर, बी. ए., एम. ए., प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, तथा इन परीक्षाओं की समकक्ष परीक्षाओं के छात्रों के लिए अत्यंत उपयोगी है । लगभग २२५ पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य २॥।)

शिखरचन्द साहित्य (ब)

विविध ग्रन्थ

कणिकाएँ—

सरस कथात्मक अनुभूतिमय गद्य काव्य

अखंड भारत—

बालोपयोगी

जीवन की बूँदें—

कहानी संग्रह

गुन गुन—

कुमारावस्था की सरस कविताएँ

संपादन—

हमारे युग की कहानियाँ
युगांकिनी
वासंती
मासिक 'नव निर्माण'
दैनिक 'जनता' आदि